

समरथ



जुलाई-अगस्त 2014 ♦ नई दिल्ली



27 अप्रैल, 1912-10 जुलाई, 2014

20 नवंबर, 1923-13 जुलाई, 2014

नाहि तो जनम नसाई

फिलिस्तीन में एक देश जिसका इतिहास है पर भूगोल नहीं। एक देश जो इस्राइल के पैदा होने के साथ-साथ सिमटते-सिमटते नक्शे पर एक धुंधला धब्बा भर रह गया। फिलिस्तीन अपने मुल्क में ही शरणार्थी हैं।

ताज़ा दौर में इज़रायल के निर्मम आक्रमणों का सर्वाधिक शिकार हुए फिलिस्तीनी बच्चे। इन हमलों में 500 से अधिक बच्चे मारे गये। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार गाज़ा के 3 लाख 73 हजार बच्चों को प्रत्यक्ष मनोवैज्ञानिक-सामाजिक सहयोग की ज़रूरत है। यू.एन. शरणार्थी शिविर, स्कूल, अस्पताल जैसी जगह भी इस्राइल की तथाकथित बदले की कार्रवाई से बच नहीं पायी।

इस्राइली हिंसा और आक्रमण ने अमेरिका इस्राइल के अन्यायपूर्ण और साम्राज्यवादी गठबंधन का घृणित रूप एक बार फिर दुनिया के सामने उधेड़ दिया, साथ ही उधड़ी अरब देशों की षड़यंत्रात्मक चुप्पी।

फिलिस्तीन एक मुसलसल तबाही का पर्याय, फिलिस्तीन एक मुसलसल प्रतिरोध का पर्याय। प्रस्तुत अंक में हमने फिलिस्तीन की तबाहियों और प्रतिरोध के इतिहास को समेटने की कोशिश की है।

फिलिस्तीन का एक आशिक़

तेरी आंखें
कि उतरता कोई नशतर दिल में
दर्द महसूस करूं, या कि फ़िदा हो जाऊं
तेज़ झोंकों में हूँ फ़ानूस इनका

रात को चीर दे, और दर्द को गहरा कर दे
ऐसे पेवस्त करो आंखों को सीने में मेरे
तेरी आंखों से मिले ज़ख्म यूँ चमकें जैसे
आज के घोर अंधेरों में रोशनी की किरण
कल के ख़्वाबों को भी रोशन कर दे
और मेरी रूह पे भी छा जाए।
और जिस दम मेरी नज़रों से मिले तेरी नज़र
यह भी न याद रहे
हम कभी साथ भी थे, एक ही थी राहगुज़र

तेरे अल्फ़ाज़ मेरा नग़मा थे
मेरे होठों पे वह उभरे थे तरन्नुम बनकर
लेकिन अफ़सोस कि मौसम बदले
खुशनुमा रंगों पे एक बर्फ़ की चादर फैली
यूँ उड़े लफ़्ज़ तेरे जैसे परिंदा कोई
अनजबी रास्तों में खो जाए
फिर तेरा साथ छूटा
ख़्वाब के आइने भी टूट गए

दर्द के तूफ़ान में हम डूब गए
ख़्वाब के टुकड़ों की झंकार लिए
ऐ वतन तुझ पे तड़पते ही रहे

तेरी आंखें हैं हम फ़िलिस्तीनी
तेरे हैं नाम हम फ़िलिस्तीनी
तेरे ख़्वाब-ओ-ख़याल, जिस्म, लिबास
तेरी ख़ामोशी और तेरी आवाज़
ज़िंदगी हो तेरी कि तेरी मौत
हम फिलिस्तीनी हम फिलिस्तीनी

तू बयाज़ों में जावेदां है मेरी
मेरे लफ़्ज़ों में जो चिंगारी है
तेरे सीने से ही उठाई है
तेरे मज़मूं मेरा सरमाया हैं
ऐ वतन तेरे नाम पर मैंने
घाटियों को भी यूँ ललकारा है!
दुश्मनो - तेरे तुंद घोड़ों से
सामना करना मुझको आता है
वक़्त बदला है पर ये याद रहे
पत्थरों और टापों के आगे
देव-पैकर तुम्हारे हर बुत पर
मेरे नग़मों की जवां चिंगारी
बिजलियां बनके बरसने को है

ऐ वतन तेरे नाम पर मैंने
अपने दुश्मन को यूँ ललकारा है
अब मुझे चैन नहीं
नींद आए तो मेरे जिस्म को कीड़े खाएं
तुमको यह याद रहे
चीटियां चीलों की नस्लें नहीं पैदा करतीं
सांप के अण्डे सपोले ही जनम देते हैं
तुमको यह याद रहे
पहले भी घोड़ों के रुख हमने पलट रखे हैं
और यकीं आज भी है
अपने बाजू में लहू आज भी है।

महमूद दरवेश की कविता 'लवर फ्रॉम पैलेस्टाइन'

हम वापस आएंगे

मेरे फिलिस्तीं, ऐ वतन
ख्वाबों में खोऊं किस तरह
ज़ख्मों की गहराई लिये
आंखें करें सौ-सौ गिला
मैं सारे आलम को करूं
पाकीज़ा तेरे नाम से

प्यारे वतन ये मेरे ग़म
मैं राज़ ही रखता मगर
आशिक हूँ पर, मजबूर हूँ

ये रोज़-ओ-शब के कारवां
अफसाने जिनमें हैं निहां
साज़िश के तूफ़ां हैं रवां
है एक तरफ़ दुश्मन जहां
कुछ यार भी हैं दरमियां
तू ही बता प्यारे वतन
तेरे बिना क्योंकर जिऊं

पर्वत तेरे, तेरी ज़मीं
और खूँ में लथपथ वादियां
आवाज़ देती हैं मुझे
वो देख उफ़क़ की लालिमा
दरिया के रोने की सदा
धारों में डूबी सिसकियां
कब से पुकारें हैं मुझे

कूचे तेरे, तेरे शहर
अब हैं यतीमों के नगर
हैं चीखते शामो-शहर

यारों को लेकिन है यकीं
होगी हमारी फिर ज़मीं
हम लौट कर फिर आएंगे
खाके वतन के हुस्न को
बोसों से हम चमकाएंगे
एक रोज़ ऐसा आएगा
यूँ वक्त पलटा खाएगा
उट्टेगी बन आंधी हवा
गूँजेगी तूफ़ां की सदा
हम साथ लेकर आएंगे
उम्मीद, नगमें, कहकशां
चिंगारियां और बिजलियां
सर, बाजू, चेहरे, त्यौरियां
तलवार, खंजर दिल और जां

फिर सुबह ऐसी आएगी
फिर सुबह ऐसी आएगी
सहरा पे जो मुस्काएगी
लहरों पे नगमें गाएगी

अब्दुल करीम अल करमी की कविता 'वी विल रिटर्न'

अनुवाद : खुशींद अनवर

हम खैरियत से हैं गाज़ा में आप कैसे हैं?

हम तो हमलों के बीच खैरियत से हैं
आप कैसे हैं?
हमारे शहीद मलबे तले हैं
बच्चे हमारे अब तंबुओं में रह रहे हैं
और वे सब आपकी खैरियत पूछते हैं
हम खैरियत से हैं गाज़ा में
आप कैसे हैं?
ठीक पीछे समुद्र है हमारे
पर हम हमलावरों को जवाब दे रहे हैं
दुश्मन ऐन सामने है
फिर भी हम लड़ रहे हैं
वह सब कुछ है हमारे पास, जिसकी ज़रूरत है हमें
खाना और हथियार
शांति के वायदे
जो समर्थन दे रहे हैं आप हमें
उसके लिए आभारी हैं हम आपके!
हम खैरियत से हैं गाज़ा में
आप कैसे हैं!

हमारी आत्माएँ
हमारे ज़ख्म
हमारे घर
हमारे आसमान
हमारे चेहरे
हमारा खून
हमारी आँखें
हमारे ताबूत
बचाते हैं हमें
आपके हथियारों से
आपके वायदों से
आपके शब्दों से
आपकी तलवारों से
हम खैरियत से हैं गाज़ा में
आप कैसे हैं?

अनुवाद : संज्ञा उपाध्याय

इस्त्राइल और जियनवाद के बारे में दस जरूरी बातें

■ आई.एस.डी.

1. सामीविरोध एक नस्लवादी विचारधारा है जिसके निशाने पर यहूदी होते हैं। समाज में उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक जड़ों के खिलाफ संघर्ष जरूरी है।
2. जियनवाद-विरोध दरअसल जियनवादी आन्दोलन के खिलाफ संघर्ष है। जियनवाद एक ऐसा आन्दोलन है जिसका उद्गम 19वीं सदी में हुआ है और जिसने देशज फिलिस्तीनी आबादी की कीमत पर विशिष्ट यहूदी संस्कृति वाले मुल्क के स्थापना की बात की तथा इसके लिए फिलिस्तीन में यहूदियों को एकत्रित करने का प्रस्ताव रखा। फिलिस्तीनी अवाम के विशाल बहुमत की अपने घरों से बेदखली के रूप में और उन्हें शरणार्थी बनाने के रूप में जियनवाद की परिणति हुई। इस्त्राइल की नीतियों और ढांचे के खिलाफ संघर्ष इस तरह एक उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष है जो अपने मुल्क में फिलिस्तीनी अवाम के राष्ट्रीय अधिकारों को बहाल करेगा।
3. जियनवाद या इस्त्राइल राज्य यहूदियों और यहूदी धर्म के प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते। दरअसल, कई सारे रूढ़िवादी यहूदी विशेषकर फिलिस्तीन के रहने वाले लम्बे समय तक जियनवाद के कट्टर विरोधी थे। यह बेहद दुखद है कि यहूदी समुदाय के तमाम सामाजिक और धार्मिक नेता अपने नैतिक अधिकार के बलबूते इस्त्राइल की उपनिवेशवादी और नस्लवादी नीतियों को ढंकने के लिए तैयार हैं।
4. न केवल इस्त्राइल फिलिस्तीनी अरब अवाम का उत्पीड़न करता है, उसका अपना वजूद सामीविरोध के खात्मे के लिए कोई योगदान नहीं देता। अनुचित तरीके से अपने आप को विश्व यहूदी जनसमुदाय का नुमाइंदा घोषित करके भले ही यहूदी आबादी का सात में से छह हिस्सा इस्त्राइल के बाहर रहता हो और इस्त्राइल के यहूदियों के साथ बिना शर्त एकजुटता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय जनमत तैयार करके, जियनवादी नेता वास्तविकता में सामीविरोध को हवा देते हैं। यह अरब मुल्कों के सन्दर्भ में बिल्कुल सही बात है।
5. इस्त्राइल को नात्सी उत्पीड़न की उपज नहीं कहा जा सकता। 19वीं सदी की अन्तिम चौथाई में ही फिलिस्तीन के जियनवादी औपनिवेशीकरण की नींव पड़ी।
6. फिलिस्तीन के प्रति यहूदियों के कथित “ऐतिहासिक अधिकारों” को खारिज करना जरूरी है। ईसवी 70 में जुडिया पर रोमन कब्जे के पहले ही यहूदी आबादी का तीन चौथाई हिस्सा फिलिस्तीन के बाहर रहता था। जिस तरह फिलिस्तीनों, फोनेशियनों और बाकियों को समाहित किया गया उसी तरह जो लोग बचे रहे उन्हें अड़ोस-पड़ोस की आबादी ने धीरे-धीरे अपने में समाहित किया। दरअसल यह विडम्बनापूर्ण है कि आज के फिलिस्तीनी एक तरह से मूल हिब्रू आबादी के ही वारिस हैं।
7. जियनवाद के लिए फिलिस्तीन पर नियंत्रण कर पाना मुमकिन हुआ क्योंकि उसे साम्राज्यवादी ताकतों ने निरन्तर साथ दिया; पहले ओटोमॉन साम्राज्य, फिर ब्रिटिश और बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका ने उसका साथ दिया। मौजूदा वक़्त में वह मध्यपूर्व की अग्रणी सैनिक शक्ति है क्योंकि उसे संयुक्त राज्य अमेरिका की सहायता और सक्रिय समर्थन प्राप्त होता है, जो उस इलाके में अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों की रक्षा के लिए इस्त्राइल का इस्तेमाल करता है।
8. इस्त्राइल कोई “समाजवादी” राज्य नहीं है। इसके विपरीत, वह इलाके में पूंजीवाद का सबसे मजबूत गढ़ है। किबुत्ज़िम जो सामूहिक फार्म हैं किसी भी तरह से समाजवादी नखलिस्तान नहीं हैं, जैसा कि सरलीकृत प्रचार में कहा जाता है। वे बड़े पैमाने पर बैंकिंग क्षेत्र पर निर्भर होते हैं, जो अक्सर अरब एवं गरीब यहूदी श्रमिकों के शोषण पर टिके होते हैं और कई मामलों में उन्हें नये सिरे से अधिगृहित फिलिस्तीनी इलाके के औपनिवेशीकरण की सहायता के लिए सैनिक अड्डों के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है।
9. इस्त्राइल कोई “जनतांत्रिक” राज्य नहीं है। वह एक नस्लवादी और पुरोहिती राज्य है, जो देशज आबादी को बेदखल करने, हर यहूदी के “वापसी के अधिकार” के संस्थाकरण (जबकि उन तमाम फिलिस्तीनियों को जिन्हें उसने बेदखल किया, उन्हें ऐसे अधिकार से वंचित करने) और उसकी सीमाओं पर बसी श्रमिक अरब आबादी के उत्पीड़न पर आधारित है। इस्त्राइल के अन्दर अरब जनता को औपनिवेशिक “अपवादात्मक” कानूनों के अन्तर्गत रहना पड़ता है, जिनका निर्माण ब्रिटिशों ने किया था जब फिलिस्तीन उनका उपनिवेश था। इन कानूनों के तहत सेना को यह अधिकार है कि वह बिना कारण लोगों को बेदखल करे, उन्हें जेल में ठूँसे और उनकी सम्पत्ति पर कब्जा करे। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जब ब्रिटिशों ने इन औपनिवेशिक अध्यादेशों को जियनवादी आबादी पर लागू किया, तब इस्त्राइल के पूर्व कानून मंत्री शापिरा ने कहा, “नात्सी जर्मनी में भी ऐसे कानून नहीं थे।”
10. जियनवाद और इस्त्राइल राज्य की संरचना के अन्तर्गत फिलिस्तीन की यहूदी आबादी के सामने एकमात्र भविष्य युद्ध ही है। यहूदियों के सामने एकमात्र समाधान यही है कि वह एक समाजवादी, जनतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष फिलिस्तीन के अन्तर्गत फिलिस्तीनी अरबों के साथ बन्धुतापूर्ण रिश्ते कायम करें।

फिलिस्तीनी तबाही का सिलसिला

■ आई.एस.डी.

- 1882-1903 : 25,000 जियनवादियों का पूर्वी यूरोप से फिलिस्तीन में अवैध पदार्पण।
- 1897 : स्विट्ज़रलैंड में आयोजित पहली जियनवादी कांग्रेस द्वारा बासिल कार्यक्रम की घोषणा जिसके तहत फिलिस्तीन में यहूदियों का घर बनाने का ऐलान, कांग्रेस के अंत में विश्व जियनवादी संगठन की बुनियाद।
- 1901 : पांचवीं जियनवादी कांग्रेस द्वारा 'राष्ट्रवादी यहूदियत फंड' की स्थापना और फिलिस्तीन को यहूदी निवास बनाने के लिए ज़मीन खरीदना।
- 1904-1914 : दूसरी बार 40,000 जियनवादियों का फिलिस्तीन में अवैध पदार्पण तथा उनकी कुल जनसंख्या में 6% की बढ़ोतरी।
- 1909 : पहले जियनवादी किबुट्स (सामूहिक खेती), उत्तरी याफा में तल अबीब की स्थापना।
- 1914 : पहला विश्वयुद्ध आरम्भ
- 1916 : जनवरी मैकमोहन हुसैन के बीच वार्ता जिसका केन्द्र अरब देशों/प्रांतों के ऑटोमन साम्राज्य से मुक्त होना रहा।
- 1917 : नवम्बर बल्फोर घोषणा-यूनाइटेड किंगडम के विदेश मंत्री द्वारा फिलिस्तीन को एक यहूदी राज्य के रूप में स्थापित करने की घोषणा।
- 1918 : सितम्बर जनरल एल.एन.बी. के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना द्वारा फिलिस्तीन पर अतिक्रमण।
अक्टूबर-प्रथम विश्व युद्ध समाप्त
- 1919 : जनवरी-फरवरी येरूशलम में पहली फिलिस्तीनी नेशनल कॉन्फ्रेंस के दौरान बल्फोर घोषणा को रद्द करना तथा स्वतन्त्रता के लिए आह्वान (पेरिस पीस कॉन्फ्रेंस पत्रों के साथ)।
अगस्त नियर-ईस्ट में पेरिस पीस कॉन्फ्रेंस द्वारा जांच कमेटी का भेजा जाना। यूनाइटेड किंगडम और फ्रांस द्वारा सहभागिता न
- निभाना।
कमेटी ने बल्फोर के विचारों को संशोधित करने की सिफारिश की।
- 1919-1923 : तीसरी बार लगभग 35,000 जियनवादी यहूदियों का फिलिस्तीन में पदार्पण। इससे उनकी संख्या में 12% की वृद्धि तथा 3% का भूमि पर मालिकाना हक।
- 1920 : अप्रैल फिलिस्तीन में उथल-पुथल, पांच यहूदियों की हत्या व 200 घायल। यूनाइटेड किंगडम द्वारा वादाखिलाफी के कारणों की जांच-पड़ताल करना तथा नई घुसपैठ का डर।
मई ब्रिटिश व्यवसाय द्वारा द्वितीय फिलिस्तीनी नेशनल काउंसिल (पी.एन.सी.) का संयोजन रुकना।
जुलाई सर एच.सेम्युअल (ब्रिटिश यहूदी) का फिलिस्तीन में ब्रिटिश सिविल एडमिनिस्ट्रेशन खोलना।
दिसम्बर हैफा में तीसरी फिलिस्तीनी नेशनल काउंसिल का संयोजन व एकज़ीक्यूटिव कमेटी का गठन जिसने 1935 तक फिलिस्तीनी राजनीतिक आंदोलन का संचालन किया।
- 1924-1928 : जियनवादियों का चौथा पदार्पण। (जिसमें 50% पोलोनिया से थे) जिससे 1928 में 4.2% भूमि पर मालिकाना हक के साथ यहूदियों की जनसंख्या में 16% की वृद्धि।
ब्लादिमिर जबुटिंस्की की जियनवादी पार्टी का फिलिस्तीन और जॉर्डन नदी के पूर्व में यहूदी राज्य की स्थापना के लिए आह्वान। जियनवादी सैनिक पक्ष दबाव में।
अक्टूबर हैफा में छठी फिलिस्तीनी काउंसिल का संयोजन।
- 1925 :
1926-1939 : पांचवें 25,000 जियनवादी पदार्पण के साथ ही जियनवादियों के भूमि पर मालिकाना

- हक में 5.7% तथा जनसंख्या में 30% की वृद्धि हुई।
- 1931 : दूसरा इरगॉन यहूदी आतंकी संगठन, जिसे अतिवादी जियनवादियों द्वारा बनाया गया था और जिनके द्वारा इसे तोड़ा गया वे हगनाह से थे, जिसका नेतृत्व ब्लादिमिर जबुटिंस्की द्वारा किया गया था।
- फरवरी बर्तानवी प्रधानमंत्री आर. मैकडोनल्ड जियनवादी नेता एच. वाइसमैन को एक पत्र लिखकर अक्टूबर 1931 में तैयार किए गए श्वेत पत्र से मुकर जाते हैं।
- नवम्बर फिलिस्तीन में द्वितीय बर्तानवी जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या 1,035,154 का 73% अरबी मुस्लिम, 8.6% अरबी ईसाई और 16.9% यहूदी थे जो (मुख्य रूप से विस्थापित) थे।
- दिसम्बर बर्तानवी विकास निदेशक एल. फ्रेंच ने फिलिस्तीनी अरबियों के बारे में रिपोर्ट प्रकाशित की। जिन्होंने जियनवादी समझौते के दौरान अपनी जमीनें गंवाई थीं।
- 1935 : अक्टूबर जियनवादी के संशोधनवादी तत्वों का विश्व जियनवादी संगठन छोड़ना और फिलिस्तीन और पूर्वी जॉर्डन को 'मुक्त' कराने के उद्देश्य से नया संगठन स्थापित करना।
- नवम्बर ब्रिटिश नीतियों के खिलाफ आवाज़ उठाने वाली पहली फिलिस्तीनी टुकड़ी का नेतृत्व शेख इज़ इद्दीन अल-कस्सम ने किया जो जेनिन के पास बर्तानवी सेना के हाथों युद्ध में मारे गए।
- 1938 : इरगोन (यहूदी भूमिगत आतंकवादी संगठन) का फिलिस्तीनियों पर हमला और 119 फिलिस्तीनियों की मौत। प्रतिरोध में फिलिस्तीनियों द्वारा 8 लोगों की हत्या।
- 1939 : मार्च लंदन कॉन्फ्रेंस की समाप्ति जिसमें कोई समझौता नहीं हुआ।
- 1 सितम्बर द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ।
- 1940-45 : इस दौरान लगभग 60 हज़ार जियनवादी फिलिस्तीन में दाखिल हुए और अचानक उनकी जनसंख्या 6 प्रतिशत से 31 प्रतिशत हो गई।
- 8 मई 1945 को द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद भारी संख्या में जियनवादियों का फिलिस्तीन में घुसना पुनः आरंभ।
- 22 जुलाई 1946: येरूशलम में इरगॉन द्वारा किंग डेविड होटल को बम से उड़ाया जाना जिसमें 91 लोगों की मौत।
- 1947 : जनवरी गोलमेज कॉन्फ्रेंस पुनः बुलाया जाना।
- अप्रैल-मई संयुक्त राष्ट्र द्वारा फिलिस्तीन पर सत्र बुलाया जाना और 11 सदस्यीय कमेटी का गठन करना।
- 16-19 सितम्बर कमेटी द्वारा फिलिस्तीन का बंटवारा प्रस्तावित करना और अरब लीग के द्वारा प्रस्ताव रद्द किया जाना।
- 1948 : जनवरी से लेकर अप्रैल तक ब्रिटेन और अमरीका द्वारा जियनवादी राज्य की स्थापना का भरपूर प्रयास।
- 14 मई 1948 को यहूदी राज्य की स्थापना और अमरीका द्वारा उसका पूरा समर्थन।
- 1959 : अल-फतह की स्थापना।
- 1963 : केरो में अरब सम्मेलन के दौरान पी.एल.ओ (पैलेस्टीनियन लिबरेशन ऑर्गनाइज़ेशन) के संविधान का मसौदा प्रस्तुत।
- 1964 : पी.एल.ओ. की स्थापना।
- 1965 : इस्राइल द्वारा जॉर्डन नदी रोकना और अल-फतेह द्वारा पहली सैन्य कार्यवाही।
- 1966 : फिलिस्तीन के अंदर अस-समूह गांव में इस्राइलियों द्वारा जन-संहार।
- 1967 : 6 दिवसीय युद्ध जिसमें इस्राइल द्वारा बचे-खुचे फिलिस्तीन पर कब्जे का प्रयास।
- 1969 : यासर अराफात का पी.एल.ओ. चेयरमैन चुना जाना।
- पी.एल.ओ. की स्थापना से लेकर मौजूदा समय तक फिलिस्तीनियों द्वारा मुक्ति का संघर्ष जारी और इस्राइल द्वारा फिलिस्तीनियों पर क्रूरतम हमलों का एक लम्बा सिलसिला। इसी दौरान यासर अराफात की मृत्यु और फिलिस्तीनी संघर्ष में फूट।

आप ठीक तो हैं!

■ अपूर्वानंद

भारत सरकार ने फिलिस्तीनी जनता पर नए इस्राइली हमले और गाजा पट्टी में लोगों के कत्लेआम पर संसद में चर्चा करने से इनकार किया। विदेश मंत्री का तर्क था कि इस्राइल और फिलिस्तीन, दोनों भारत के मित्र हैं, इसलिए इसका ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि दोनों में से किसी के प्रति असम्मानजनक शब्द चर्चा में न निकल जाए। तात्पर्य यह भी था कि हम दोनों में से किसी का पक्ष लेते हुए न दीख जाएं। बाद में जब चर्चा हुई भी तो बड़ी कमजोर, और सरकार ने ऐसा कोई प्रस्ताव लेने से इनकार कर दिया, जिसमें 2014 के हमले के लिए इस्राइल की आलोचना की जाती। कहा गया कि हालांकि परंपरागत रूप से भारत फिलिस्तीन का समर्थक रहा है, लेकिन हम इस्राइल के साथ रिश्तों में खटास नहीं आने देना चाहते।

इधर भारत की विदेश मंत्री गाजा पट्टी में इस्राइली खूरेजी के दरम्यान फिलिस्तीन और इस्राइल के बीच संतुलन साधने की कोशिश में लगी थीं और शासक दल के सांसद इस्राइल की जगह फिलिस्तीनी संगठन 'हमास' पर हमला करने में जुटे थे, उधर भारत ने संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार परिषद के एक प्रस्ताव पर दस्तखत कर दिए, जिसमें न सिर्फ अभी के इस्राइली हमलों की सख्त आलोचना की गई है, बल्कि उसे साफ-साफ आक्रामक भी कहा गया है और उसकी निंदा यह कहते हुए की गई है कि उसने अब तक गाजा पर अपने कब्जे को खत्म नहीं किया है। यह प्रस्ताव मामूली नहीं है, क्योंकि इसमें गाजा पट्टी में युद्ध-अपराध की जांच की बात भी कही गई है, जिसकी मांग इस्राइल के खिलाफ फिलिस्तीनी जनता करती आ रही है। इस प्रस्ताव के खिलाफ सिर्फ एक देश ने मत दिया और उसका नाम जानने के लिए किसी विशेष मेधा की आवश्यकता नहीं है।

भारत का आधिकारिक स्वर कौन-सा है? और क्या भारत की सरकार और संसद के बीच संबंध टूट गया है? क्या भारत सरकार संसद को यह कह रही है कि संवेदनशील विषयों पर बात करने की सलाहियत उसकी

नहीं है और उसे यह सब प्रधानमंत्री पर छोड़ देना चाहिए? या भारत के प्रधानमंत्री कार्यालय, जहां से संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार परिषद के प्रस्ताव के समर्थन का निर्णय किया गया होगा और भारत के विदेश मंत्रालय के बीच कोई तालमेल नहीं है? या, भारत दोमुंहेपन का धोखे से भरा खेल खेल रहा है? क्या भारत सरकार इस्राइल को यह संदेश देना चाहती है कि संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार परिषद के प्रस्ताव का मात्र सांकेतिक महत्त्व है और उसे बहुत गंभीरता से लेने की आवश्यकता नहीं है? हमारा असली संकल्प तो इससे प्रकट होता है कि हमने अलग से एक देश की तरह, अपनी जनता की सर्वोच्च प्रतिनिधि सभा से आपकी शान के खिलाफ एक शब्द भी निकलने नहीं दिया।

भारत नामक राज्य राष्ट्र में शायद ही कभी राज्य और जनता एकमेक हो गई हो! राज्य की बाध्यता को जनता ने अपनी नैतिकता की सीमा बनाने से हमेशा इनकार किया है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से कुछ बदल रहा है। वह बदलाव आपको फेसबुक या सोशल मीडिया में इस्राइली हमले की चर्चा पर की जा रही टिप्पणियों से पता चलता है। प्रायः हिंदू नामों से की जा रही टिप्पणियां इस्राइल के हमले का औचित्य खोजती दीख पड़ती हैं। वे बच्चों-औरतों के मारे जाने को उचित भले न ठहराएं, इस्राइली आक्रामकता में आनंद लेती जान पड़ती हैं। क्या इसकी वजह यह है कि फिलिस्तीनी आबादी वास्तव में इस्लाम मतावलंबियों की है? मुसलमानों को कमतर इंसान या एक सांस्कृतिक मलबा मानने के कारण उसकी सफाई में इस्राइली दृढ़ता के चलते भारत के हिंदू उसका रुआब मानने लगे हैं। मुसलमानों को एक कुदरती भूल या विपर्यय मानने के कारण ही उनके साथ दोगले दर्जे का बर्ताव, जैसे देश में जैसे ही बाहर, उचित जान पड़ता है। भारत का हिंदू मन इसी कारण इस्राइल को अपना आदर्श देश मानने लगा है।

यह विडंबनापूर्ण लग सकता है कि इस हिंदू मन की प्रतिनिधि संस्था एक समय हिटलर को अपना आदर्श मानती थी। वह हिटलर, जिसने आर्य रक्त की शुद्धता

के लिए यहूदियों को धरती की गंदगी मान कर उनके आखिरी सफाए का सरंजाम किया था और जिसे एक तरह से इस्राइल की आज की शक्ल के लिए जिम्मेदार माना जाना चाहिए। अब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लिए वही इस्राइल आदर्श है, जहां उसके पूर्व आदरणीय हिटलर का नाम लेना अपराध है। लेकिन यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि इस्राइल ने हिटलर को ही अपना आईना बना लिया है। वह शायद इस मामले में विलक्षण है कि वह इजराइलियों का नहीं, बल्कि यहूदियों का देश है।

दुनिया भर में, यहूदी जहां भी हों, इस्राइली नागरिकता के हकदार हैं और उन्हें अपनी दैवी भूमि पर लौटने का हक है। यही तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के भारत का सपना है कि वह भारतीयों का नहीं हिंदुओं का देश हो। जिस तरह इस्राइल उस भूभाग को यहूदियों की दैवी भूमि घोषित कर उस पर अपना पहला और अंतिम अधिकार घोषित करता है, वैसे ही भारत पर हिंदू मात्र का दैवी अधिकार मानने वालों के हाथ में अभी इस देश के शासन की बागडोर है। ध्यान रहे कि फिलिस्तीनियों ने कभी नहीं कहा कि उनके फिलिस्तीन में यहूदियों को या ईसाइयों को रहने का अधिकार नहीं होगा।

इस्राइल खुद को लोकतंत्र कहता है, लेकिन वहां के अरब दोयम दर्जे के नागरिक हैं। और वह कानूनी तौर पर। यही तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारत के मुसलमानों के बारे में चाहता रहा है। चूंकि हिटलर की तरह वह उनका अंतिम निपटारा नहीं कर सकता, इस्राइल की तरह उन्हें उनकी औकात में तो रख ही सकता है। लेकिन पूर्ण बहुमत में आ जाने पर भी भारतीय जनता पार्टी के लिए यह राह लेना इतना आसान नहीं लग रहा है। भारत के उपनिवेशवादी आंदोलन का सांस्कृतिक दबाव अभी बना हुआ है। भारत की अपनी कल्पना सख्त राज्य की नहीं रही थी। लेकिन 2020 तक भारत को विश्व की महाशक्ति बनाने का एपीजे अब्दुल कलाम का

संदेश काफी लोकप्रिय हुआ और उनके मुसलमान होने के बावजूद हिंदुओं में उनकी लोकप्रियता से हिंदू मन के बदलने का संकेत मिलता है।

पाकिस्तान को जब जी चाहे सबक सिखाने की दमित इच्छा की पूर्ति इस्राइल द्वारा नियमित रूप से गाजा की जनता के संहार से पूरी होती है। एक तरह से इस्राइल वह कर रहा है, जो भारत नहीं कर पा रहा है। वह मुसलिम देशों के बीच अपनी शर्त पर रह रहा है। उसका संरक्षक अमेरिका इसके लिए बाध्य है कि इस्राइल के हर कृत्य का समर्थन और अंतर्राष्ट्रीय रोष से उसकी रक्षा करे। अमेरिका और इंग्लैंड इस मामले में खुद अपने जनमत की अवहेलना करते हैं। वहां शासन किसी का हो, इस्राइल की ताकत भारत के हिंदुओं में संभ्रम का भाव पैदा करती है। ऐसा ही भारत तो हम बनाना चाहते हैं।

मेरे कुछ मित्र कहते हैं कि भारत में आ रही इस कठोरता को संपूर्ण हिंदू मन पर आरोपित करना ठीक नहीं। लेकिन उन्हें स्वयं इस पर विचार करना होगा कि जो मन भागलपुर, बाबरी मस्जिद के ध्वंस, गुजरात या मुजफ्फरनगर में मुसलमानों की हत्या से विचलित नहीं होता, बल्कि उसका औचित्य तलाश करता है, वह दरअसल खुद भारत में ऐसे गाजा-क्षेत्रों की कल्पना करता है, जिस पर पूरी तरह हिंदू नियंत्रण हो।

हिंदू अक्सर मुसलमानों को अपना सुधार करने की सलाह देते रहते हैं, लेकिन बलात्कार और हत्या से विचलित होना तो दूर, उसे वाजिब ठहराते हैं। उन्हें अब यह सोचने की जरूरत है कि खुद को मानवीयता से वंचित कर वे अपना क्या कर रहे हैं! उनके पास इस सवाल का क्या उत्तर है, जो गाजा की जनता पूछ रही है, 'यहां हम गाजा में बिल्कुल ठीक-ठाक हैं, आप अपनी आत्मा का हाल बताइए।

हमारे शहीद मलबे में दबे हैं और हमारे बच्चे तंबुओं में रह रहे हैं और वे पूछते हैं, आप ठीक तो हैं?'

फिलिस्तीन मुक्ति-संघर्ष

दुर्घर्ष अजेय आशाओं, अकूल बलिदानों-त्रासदियों की महाकाव्यात्मक गाथा

■ सुदीप रस्तोगी

जनता के अनगिनत शौर्यपूर्ण संघर्षों के महाकाव्य फिलिस्तीन की पुरातन भूमि पर इतिहास ने अमित अक्षरों में लिखे हैं। प्राचीन काल में यूनानी और रोमन साम्राज्यों के विरुद्ध जूडिया के किसानों के संघर्ष से लेकर आधुनिक काल में यूरोपीय उपनिवेशवादी प्रभुत्व और कुचक्रों के विरुद्ध इस क्षेत्र की जनता के संघर्ष तक की एक लंबी परंपरा रही है जो विश्व-जनता के इतिहास की थाती है। अमेरिकी साम्राज्यवादियों की शह पाकर इस्राइली जियनवादी आक्रांताओं द्वारा हड़प ली गयी अपनी मातृभूमि को पाने के लिए फिलिस्तीन की जनता राष्ट्रीय मुक्ति की जो जुझारू लड़ाई लड़ रही है, वह जनसंघर्षों की इसी लंबी परंपरा की अधुनातन कड़ी है।

वस्तुतः पूरा मध्य-पूर्व एक लंबे समय से ऐसा रणस्थल बना रहा है जहां विश्व-पूजीवादी तंत्र के सभी अंतर्विरोध परस्पर गुंथे हुए हैं। पिछले कुछ वर्षों से, अंतर्विरोधों की इस गांठ का केंद्र फिलिस्तीन राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष बना हुआ है। 1987 के अंत में, गाजा पट्टी और पश्चिमी किनारे के अधिकृत फिलिस्तीन क्षेत्र में जिस व्यापक जन उभार-इन्तिफादा की शुरुआत हुई, उसने पिछली चौथाई शताब्दी से जारी छापामार मुक्ति योद्धाओं के सशस्त्र संघर्ष के साथ अधिकृत क्षेत्र की प्रचंड जनशक्ति को ला खड़ा किया है।

वर्तमान त्रासदी की ऐतिहासिक पूर्वपीठिका

फिलिस्तीन को हड़पे जाने की त्रासदी 1947 की विभाजन योजना या 1948 के युद्ध का आकस्मिक परिणाम नहीं थी। वह एक पुरानी उपनिवेशवादी योजना की परिणति थी जिसके तहत अपने हितों की पूर्ति के लिए ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने जियनवादी प्रतिक्रियावाद को बढ़ावा दिया, इस्तेमाल किया और कालान्तर में उसे पूरी अरब जनता-विरोधी भौतिक शक्ति के रूप में उभरने में सहायक बना। फिलिस्तीन-समस्या को इस पुराने षड्यंत्रपूर्ण सहमेल की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के रूप में देखा जा सकता है जिसने कालान्तर में अपनी परिधि में सभी अरब और अफ्रीकी एशियाई देशों को समेट लिया।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक अखाड़े में एक नयी स्थिति उत्पन्न हो रही थी। ब्रिटिश उपनिवेशवाद भारत तथा मिस्र और अफ्रीका के अन्य भागों में अपनी उपस्थिति को मजबूत बनाने के साथ ही इन देशों को जाने वाले तमाम महत्वपूर्ण मार्गों पर वर्चस्व कायम करने और

उन्हें सुरक्षित बनाने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील था। नयी साम्राज्यवादी शक्तियों के उदय और उपनिवेशवादी ताकतों द्वारा उपनिवेशों के बंटवारे के पिछले आपसी समझौतों पर टिके न रहने के कारण अंतर्साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा उग्र हो उठी थी। इसके अतिरिक्त औपनिवेशीकरण लायक कुछ नये क्षेत्र भी प्रकट हो गये थे, विशेषकर तुर्क साम्राज्य के पतन के बाद उसके प्रभुत्व से मुक्त अरब क्षेत्र में। साथ ही, पूरे एशिया में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की शैशवावस्था प्रारंभ हो चुकी थी और मध्य-पूर्व में भी इसके उदय के प्रारंभिक संकेत क्षितिज पर दिखायी देने लगे थे। इस पूरी नयी स्थिति के सर्वांगीण सर्वेक्षण के बाद ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने जो रणनीति अपनायी, उसके चलते तथा मध्यपूर्व के अंतरउपनिवेशवादी प्रतिस्पर्धा का अखाड़ा बन जाने के चलते फिलिस्तीन जन के लिए उस त्रासद विडंबना की शुरुआत हुई जिसमें द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल की फिलिस्तीन-समस्या के बीज निहित थे। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के लिए फिलिस्तीन पर पूरा और पुख्ता नियंत्रण सिनाई तथा स्वेज नहर की सुरक्षा के लिए आवश्यक था जो भारत तथा अफ्रीका जाने वाला महत्वपूर्ण मार्ग था। साथ ही, फिलिस्तीन एक ऐसा स्थल भी था जहां तीन महाद्वीप मिलते थे। अंग्रेजों के लिए यह भूमध्य सागर के पश्चिमी तथा पूर्वी तटों, लाल सागर और हिंद महासागर को नियंत्रित करने में सहायक एक महत्वपूर्ण चौकी बन सकता था। साथ ही यह एक ऐसा केंद्र भी था जहां से, तुर्क साम्राज्य के पतन के बाद सीरिया, ट्रांसजार्डन, इराक और अरब प्रायद्वीप में भावी विस्तारवादी योजनाओं को क्रियान्वित किया जा सकता था। अपने साम्राज्यवादी मंसूबों को पूरा करने में फिलिस्तीन के इसी विशेष महत्व की दृष्टि से ब्रिटेन ने फिलिस्तीन के उपनिवेशन की विशेष योजना तैयार की। यह कोई सामान्य उपनिवेशन नहीं था। ब्रिटिश साम्राज्यवादी अपने हितों की सुरक्षा वफादारी के साथ करने के लिए फिलिस्तीनी जनता के प्रति आश्वस्त कदापि नहीं हो सकते थे। इसलिए उन्होंने स्थानीय आबादी के हितों व अधिकारों को छीनकर और यहूदी आबादी को सौंपकर उन्हें यूरोप के विभिन्न भागों से यहां लाकर बसाने की योजना बनायी। इससे उन्हें विशेष लाभ यह होता कि यहूदी आबादी और फिलिस्तीन की मूल अरब आबादी के

बीच संघर्ष हमेशा बना रहता जो किसी भी साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन के लिए गंभीर नुकसान होता और स्थानीय आबादी हमेशा ही आपस में बंटी रहती। दूसरे, यहूदी आबादी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जनता के दूसरे हिस्सों और अन्य उपनिवेशवादी ताकतों के विरुद्ध वफादारी से उनके साथ खड़ी रहती और एक रक्षात्मक आक्रामक गैरिसन के रूप में उनके लिए काम करती रहती। इस तरह फिलिस्तीन में एक नयी आबादकारी उपनिवेशवादी योजना के क्रियान्वयन की पृष्ठभूमि तैयार हुई, जिसमें परिष्कृत रूप से 'फूट डालो और राज करो' की पुरानी उपनिवेशवादी नीति भी समाहित थी।

इस नयी उपनिवेशवादी योजना क्रियान्वयन का एक साधन प्रतिक्रियावादी, धार्मिक अंधराष्ट्रवादी और यहूदी नस्लवादी विचारधारा के रूप में ज़ियनवाद इतिहास के रंगमंच पर पहले ही उपस्थित हो चुका था। यूरोप में, विशेषकर पूर्वी यूरोप और यूरोपीय रूस में यहूदियों की आम आबादी को जिस जातीय उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा था, उसके प्रतिक्रियास्वरूप उनके भीतर ज़ियनवाद एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में पैदा हुआ था। इतिहास में प्रायः ऐसा हुआ है कि दमन-उत्पीड़न के शिकार लोगों में जहां संघर्ष और मुक्ति का एक सही दर्शन जन्म लेता रहा है, वहीं उनके एक हिस्से में, और प्रतिक्रिया के खास दौर में उनके बड़े हिस्से में प्रतिक्रियावादी प्रकृति के विचार और आंदोलन भी पैदा होते रहे हैं। ये विचार और आंदोलन प्रभावी सामाजिक शक्ति केवल तभी बन पाते हैं जब शासक वर्गों के किसी हिस्से द्वारा उन्हें प्रोत्साहन दिया जाता है। ज़ियनवाद यूरोपीय यहूदियों के मध्यम वर्गों में पूंजीवादी राष्ट्रवाद की प्रतिक्रियावादी अंतर्वस्तु की अभिव्यक्ति के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पैदा हो चुका था। ज़ियनवाद ने स्वयं को दुनिया के सभी यहूदियों की तमाम समस्याओं के एक नये तथा पूर्ण समाधान से व्यवस्थित राजनीतिक प्रयास के रूप में प्रस्तुत किया, लेकिन आम यहूदी आबादी के लिए यह बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक पूर्णतः विजातीय बना रहा। यूरोप की यहूदी आबादी का बहुलांश 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बुर्जुआ उदारवादी और सामाजिक जनवादी आंदोलन के प्रभाव में था और यहूदी समस्या का हल यूरोपीय समाज में आत्मसातीकरण तथा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के रूप में देखता था। ज़ियनवाद को वह पूर्वी यूरोप के कुछ देशों में यहूदी-उत्पीड़न की अतिप्रतिक्रिया मानता था। 1896 में जब आधुनिक ज़ियनवाद के जनक थियोडोर हर्जेल की पुस्तक 'यहूदी राज्य' प्रकाशित हुई और 1897 में स्विट्ज़रलैंड के बेसिल नगर में जब प्रथम ज़ियनवादी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित हुआ तो किसी ने न सोचा था कि ब्रिटिश उपनिवेशवादी कुचक्र का मोहरा बनकर और फिर अमेरिकी

साम्राज्यवाद की शह पाकर यह विचार भविष्य में एक नये नस्लवादी शासन के रूप में फिलिस्तीन जनों पर अभूतपूर्व कहर बरपा करने वाला है।

19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अरब जगत में साम्राज्यवादी स्वार्थों की पूर्ति के लिए मज़हबी अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करने की आड़ का इस्तेमाल किया जाता था। इसी नीति का सहारा लेकर फ्रांस ने सीरिया, लेबनान और फिलिस्तीन में कैथोलिकों पर, जारशाही रूस ने आर्थोडॉक्स ईसाइयों पर और ब्रिटेन ने यहूदियों पर अपना संरक्षण लाद दिया था।

इतिहास के पन्नों पर बिखरे फिलिस्तीन-संबंधी साम्राज्यवादी मंसूबों-कुचक्रों के ढेरों तथ्यों में से यहां हम कुछ का उल्लेख करेंगे, क्योंकि यहां इतना ही संभव है। फिलिस्तीन में 1827 में यहूदी-धर्मार्थ बस्तियों का निर्माण शुरू करने वाले एक ब्रिटिश यहूदी सर मोंटोफिओरी ने ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखकर यह सुझाव दिया था कि एक ब्रिटिश रेलवे लाइन का निर्माण किया जाए जो जाफा से शुरू हो और भूमध्य सागर को अरब खाड़ी तथा हिंद महासागर से जोड़ें। 1840 में शाफ्ट्सबरी के अर्ल ने पामस्टन के समक्ष 'फिलिस्तीन के उपनिवेशन के लिए एक योजना' नामक मेमोरेण्डम प्रस्तुत किया था, जिसमें फिलिस्तीन में यहूदियों को बसाने का राजनीतिक आर्थिक महत्व समझाया गया था। 1845 में श्रीलंका के भूतपूर्व ब्रिटिश गवर्नर ई.एल.मिण्टफोर्ड ने फिलिस्तीन के यहूदीकरण के महत्व का उल्लेख करते हुए स्पष्टतः स्वीकार किया था कि यहूदियों की भलाई की आड़ में वस्तुतः इससे इंग्लैंड को भारी लाभ मिलेंगे। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्वेज नहर के खुलने और ओटोमन साम्राज्य के कमज़ोर पड़ने के बाद तथा ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और रूस के बीच अरब क्षेत्र के लिए औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा तीव्र होने के बाद फिलिस्तीन का रणनीतिक महत्व और अधिक बढ़ गया। इसी दौरान 'फिलिस्तीन खोज कोष' की स्थापना भी हुई और ब्रिटिश रॉयल इंजीनियरों ने फिलिस्तीन, ट्रांसजॉर्डन और सिनाई क्षेत्र का गहन सर्वेक्षण शुरू किया। 1862 में जर्मन ज़ियनवादी विचारक मोजेज हैस ने फ्रांस से संबद्ध यहूदी राज्य की स्थापना की वकालत करते हुए लिखा था : 'फ्रांस निश्चित ही यह चाहेगा कि भारत और चीन जाने वाले मार्ग पर ऐसे लोगों का अधिकार और वास हो जो मृत्युपर्यन्त उसके पीछे चलें।' 1896 में अपनी पुस्तक 'यहूदी राज्य' के प्रकाशन और 1908 में अपनी मृत्यु के बीच के बारह वर्षों में थियोडोर हर्जेल ने सात यूरोपीय देशों से संपर्क किया और यह समझाने की कोशिश की कि 'यहूदी राज्य एशिया के विरुद्ध यूरोप के परकोटे का एक भाग होगा बशर्ते कि

यूरोपीय शक्तियां उसके अस्तित्व की गारंटी लें।' उसने अलग-अलग उपनिवेशवादी शक्ति के हितों की हिफाजत में सहायता के लिए सौदेबाजी की और 1896 में ब्रिटेन के लार्ड सेल्सवरी से, 1899 में जर्मनी के कैसर से, 1901 में ओटोमन सुल्तान से और 1902 में फिर ब्रिटिश सरकार से संपर्क स्थापित किया। जिस समय ब्रिटेन के साथ बातचीत में बालफोर घोषणा की पूर्वपीठिका तैयार हो रही थी, ठीक उसी समय कुछ और ज़ियनवादी नेता जर्मनी से भी बातचीत चला रहे थे। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद फिलिस्तीन सहित ओटोमन साम्राज्य के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों का प्रश्न ब्रिटेन के लिए अहम बन गया। ज़ियनवादी नेताओं ने यह बताने में ज़रा भी देर नहीं की कि एक जियनवादी राज्य की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य के सामरिक हितों के लिए कितना उपयोगी होगा। जियनवादी नेता चेम वीजमान ने 'मैचैस्टर गार्जियन' के संपादक के नाम एक संदेश में लिखा था: "... यदि फिलिस्तीन ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत आ जाए और ब्रिटेन वहां एक ब्रिटिश अधीन क्षेत्र के रूप में, यहूदी आबादकारी को प्रोत्साहन दे, तो हम बीस-तीस वर्षों में बीस लाख या शायद इससे भी अधिक यहूदियों को बसा सकते हैं; वे स्वेज नहर के लिए एक अत्यंत प्रभावी रक्षक सिद्ध हो सकते हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद ज़ियनवाद के साथ-साथ ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की अरब नीति की आधारशिला था। 1915 में ब्रिटिश यहूदी मंत्री हर्बर्ट सैमुअल ने सरकार के समक्ष 'फिलिस्तीन-पांच विकल्प' शीर्षक मेमोरण्डम प्रस्तुत किया। इसमें फिलिस्तीन के फ्रांसीसी प्रभुत्व में आ जाने के विरुद्ध चेतावनी देते हुए कहा गया था कि स्वेज के निकट एक महान यूरोपीय शक्ति की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य की आवश्यक लाइनों के लिए एक निरंतर और जबर्दस्त खतरा होगी।' इसके जरिये फिलिस्तीन के अंतर्राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध भी आगाह करते हुए कहा गया था कि यह जर्मन संरक्षण कायम करने के लिए एक कदम रखने का पत्थर साबित हो सकता है। मेमोरण्डम में फिलिस्तीन को ब्रिटिश आधिपत्य के तहत लेने और दूरगामी हितसाधन की दृष्टि से ज़ियनवादी आंदोलन के जरिये इसके यहूदीकरण का प्रस्ताव रखा गया था। इस मेमोरण्डम को लॉयड जॉर्ज और लॉर्ड बालफोर जैसे मंत्रियों की शय प्राप्त थी। वस्तुतः यही आगे चलकर दो वर्षों बाद हुई बालफोर घोषणा की पूर्वपीठिका साबित हुआ।

कुख्यात बालफोर घोषणा और उसके बाद : फिलिस्तीन जनता के विरुद्ध साम्राज्यवादी-ज़ियनवादी आपराधिक षड्यंत्र

2 नवंबर, 1917 को वह कुख्यात बालफोर घोषणा जारी हुई, जिसके अनुसार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद फिलिस्तीन ब्रिटिश मैंडेट के अंतर्गत आ गया। फिलिस्तीन त्रासदी की

शुरुआत करने वाला यह दस्तावेज आधुनिक इतिहास के सर्वाधिक विपदाकारी उपनिवेशवादी दस्तावेजों में से एक था। इसके द्वारा फिलिस्तीन में यहूदी जन के लिए एक राष्ट्रीय घर की स्थापना का वायदा किया गया था। यद्यपि इस घोषणा पर यहूदी उत्पीड़न की समस्या को हल करने का मानवतावादी आवरण चढ़ाया जाता रहा था, पर विंस्टन चर्चिल ने यह स्वीकार किया था कि 'यह एक साझे उद्देश्य के लिए उठाया गया व्यावहारिक कदम था।' ज़ियनवादी नेता और इस्राइल के पूर्व प्रधानमंत्री बेगिन ने इसके पीछे निहित उद्देश्यों को दो टूक शब्दों में अपनी पुस्तक 'दि रिवोल्ट' में प्रस्तुत किया है : "ब्रिटिश कूटनीति की एक अनूठी मेधाविता है, या थी - ब्रिटिश स्वार्थों पर एक सामान्य आदर्श का खोल चढ़ा देना...। ब्रिटिश नीति एक महान आदर्श का समर्थन करने को प्रस्तुत हुई, जो ब्रिटेन को फिलिस्तीन पर नियंत्रण कायम करने में सफल बनाता और ऐसा प्रतीत भी नहीं होता। आदर्श सुलभ था.. ब्रिटेन यहूदियों को फिलिस्तीन में एक (राष्ट्रीय) घर का वचन देगा। ब्रिटेन को फिलिस्तीन मिल जाएगा और यहूदियों को उसमें एक घर मिल जाएगा...।"

इस तरह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के संरक्षण में ज़ियनवादी राज्य की निर्माण-प्रक्रिया एक सुनियोजित योजना के तहत प्रारंभ हुई और अगले तीस वर्षों तक लगातार जारी रही। तीस वर्षों तक लगातार यूरोप से अप्रवासी यहूदियों को लाकर फिलिस्तीन में बसाया जाता रहा और योजनाबद्ध ढंग से वहां की मूल आबादी को उनकी जगह-जमीन से उजाड़ा जाता रहा। 1917-18 में ब्रिटिश आधिपत्य की शुरुआत के समय फिलिस्तीन में 56,000 यहूदी थे जो देश की कुल आबादी के मात्र 8 प्रतिशत थे। 1920 में यहूदियों की संख्या 60,000 और मूल अरब आबादी 6,00,000 थी। 1948 में ब्रिटिश आधिपत्य की समाप्ति के समय यहूदी आबादी बढ़कर 6,50,000 हो चुकी थी। उस समय फिलिस्तीनियों की जनसंख्या 15,00,000 थी। 1918 से 1948 के बीच भूमि पर यहूदियों का स्वामित्व बढ़कर दूने से भी अधिक हो गया। यहूदी बस्तियों की संख्या में इस अवधि में चार गुने की वृद्धि हुई। बलात् दरिद्रीकरण की ब्रिटिश नीति के विरुद्ध दूसरे विश्वयुद्ध के समय तक की अवधि में अरबों के कई आंदोलन और सशस्त्र बगावतें हुईं। यहूदी आबादी के विरुद्ध व्यापक जनभावना के कारण कई दंगे भी हुए। कट्टरपंथी यहूदियों के हगाना, इर्गुन, ज्वाई ल्यूमी और स्टर्न जैसे आतंकवादी संगठनों की कार्रवाइयों ने अरब-यहूदी आबादी के बीच के अंतर्विरोधों को उग्रतम सीमाओं तक बढ़ाने में कारगर भूमिका निभायी। ब्रिटिश सेनाधिकारियों ने खुद इन आतंकवादी दस्तों को सामरिक प्रशिक्षण देने का

काम किया। द्वितीय विश्वयुद्ध तक फिलिस्तीन में ज़ियनवादी एक फौजी ताकत के रूप में भी काफी हद तक संगठित हो चुके थे।

इस तरह, अपनी सुनियोजित विश्व-रणनीति के तहत ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने फिलिस्तीन भूभाग पर लंबे समय तक अपना प्रत्यक्ष-परोक्ष वर्चस्व कायम रखने के लिए ज़ियनवाद को पूरी मदद देकर एक ताकतवर प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में ढाल दिया, फिलिस्तीन में ऐसी परिस्थितियों का निर्माण किया जिनमें ज़ियनवाद से प्रभावित यहूदी धार्मिक राष्ट्रवाद की जड़ें आम यहूदी आबादी में ज्यादा से ज्यादा पुख्ता होती गयीं और इसे क्षेत्र में उभरते हुए अरब राष्ट्रवाद और विशेषकर फिलिस्तीन जनता के विकासशील राष्ट्रवाद के आमने-सामने लाकर खड़ा कर दिया। इतिहास के इस दौर की एक ऐसी जटिल और उलझी हुई स्थिति ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने पैदा की जो कालांतर में पूरे मध्यपूर्व में प्रभावी हो गयी और पूरे क्षेत्र को सतत तनाव और विनाशकारी युद्धों की विभीषिका में ढकेल दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब ब्रिटिश उपनिवेशवाद का पराभव शुरू हो गया तो नवउपनिवेशवादी दौर में साम्राज्यवादी विश्व के नये सरगना अमेरिका ने भी मध्यपूर्व की इन स्थितियों का भरपूर लाभ उठाया और युद्ध की आग पर लगातार हाथ सेंकता रहा।

साम्राज्यवादी-ज़ियनवादी दुरिसन्धि का नया दौर : इस्राइली विस्तारवादी और फिलिस्तीन जनता के विरुद्ध लगातार युद्ध और दमन का अन्तहीन सिलसिला (1947-1967)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस्राइल का जन्म जिन परिस्थितियों में हुआ, वे अत्यंत जटिल और उलझी हुई थीं। यह सही है कि इतिहास का निर्माण जनता करती है, पर वह ऐसा अपनी मनचाही स्थितियों में नहीं करती। ऐसा करते समय कभी-कभी कुछ ऐतिहासिक त्रासदियां उसके सामने वस्तुगत सच्चाई और एक भौतिक शक्ति के रूप में खड़ी होती हैं, जिन्हें स्वीकार करके ही उसे आगे कदम उठाना होता है। कभी-कभी शासक वर्गों की साजिशों से ही प्रारंभ हुई कोई सामाजिक-राजनीतिक गति कुछ ऐसी वस्तुगत स्थितियों को जन समुदाय के सामने ला उपस्थित करती हैं, जिन्हें स्वीकार करना ही होता है और उसके बाद इतिहास को आगे ले जाने की नयी रणनीति बनानी पड़ती है। जैसे इतिहास में साम्राज्यवादी कुचक्रों-साजिशों ने कई ऐसे गलत आधार पर हुए विभाजनों को जन्म दिया है, जो कालांतर में ऐसी ऐतिहासिक सच्चाई बन जाते रहे हैं, जिन्हें जनगण को भी अंततः स्वीकार करना पड़ता रहा है। पर साथ ही यह भी याद रखना होगा कि ये स्थितियां जिस हद तक इतिहास की प्रेरक एवं वाहक शक्तियों की इच्छा से स्वतंत्र होती हैं, उससे भी कहीं अधिक वे इतिहास के अवरोधक शक्तियों की इच्छा से स्वतंत्र होती हैं और अंततः उनकी गति उन प्रतिगामी ताकतों के

हितों के प्रतिकूल दिशा में ही जाती है। पहली बात यह कि इस्राइल की निर्माण-प्रक्रिया उपनिवेशवादी-ज़ियनवादी दुरभिसंधि के रूप में शुरू हुई। पर आज इस्राइली राष्ट्र इतिहास की एक सच्चाई है जिसे अंततः फिलिस्तीन मुक्ति संघर्ष के नेतृत्व और अरब शासक वर्गों को भी स्वीकार करना पड़ा है। दूसरी बात, आज भी इस्राइल का नेतृत्व ज़ियनवादी है, पर पूरी इस्राइली यहूदी जनता और यहां तक की वहां का पूरा शासक वर्ग भी ज़ियनवादी नहीं है और न ही इस्राइली राष्ट्रवाद ज़ियनवादी अंध राष्ट्रवाद का पर्याय ही है। आज वहां की जनता का एक बड़ा हिस्सा खुद शासक वर्ग और उसकी फिलिस्तीनी जनता विरोधी नीतियों के विरुद्ध है और शासक वर्ग भी इस मसले पर बंटता हुआ है। इसकी चर्चा हम आगे विस्तार से करेंगे, यहां हमारा तात्पर्य केवल यह बताना है कि स्वयं इस्राइल के भीतर विकसित ये स्थितियां भी किस तरह साम्राज्यवादी महाप्रभुओं की इच्छा से स्वतंत्र हैं, इसके विपरीत हैं और उन्हें विवश करने वाली हैं।

इस पृष्ठभूमि पर हम इस्राइल के निर्माण की उन परिस्थितियों पर विचार करेंगे जिनमें विश्व जनमत ने भी इसे स्वीकृति प्रदान की थी।

1939-45 के बीच, द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मनी और यूरोप में नात्सियों ने पूरी यहूदी आबादी को भयंकर यंत्रणाएं दीं और लाखों यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया। करीब साठ लाख यहूदियों को गैस-चेंबरों में झोंक दिया गया। इस भयंकर फासिस्ट नरमेध ने पूरी दुनिया में यहूदियों के प्रति व्यापक सहानुभूति की लहर पैदा कर दी और यहूदी प्रश्न ने एक मानवीय समस्या की शकल अख्तियार कर ली। इसके पहले भी यूरोप में यहूदियों के विरुद्ध समय-समय पर छिटपुट धर्मांध सांप्रदायिक और नस्लवादी हिंसा होती रहती थी, पर उसके चलते आम यहूदी आबादी ने कभी उन देशों से उजड़कर फिलिस्तीन जाने के बारे में नहीं सोचा था। पर नात्सियों के कहर के बाद आम यूरोपीय यहूदियों में भी यह विचार घर कर गया कि यूरोपीय देशों के समाजों में उनका आत्मसातीकरण नहीं हो सकता। ज़ियनवादी प्रचार ने भी इस भावना को प्रबल बनाया और इस भावना ने ज़ियनवाद के आधारों को विस्तारित किया। फिलिस्तीन भूभाग पर इस्राइल की स्थापना की मांग प्रबल हो उठी। अमेरिका के यहूदियों, विशेषकर समृद्ध और प्रभावी यहूदियों और उनकी ताकतवर वित्तीय-राजनीतिक लॉबियों ने अमेरिकी सरकार पर इसके लिए विशेष जोर डालना शुरू किया। इधर ज़ियनवादी आंदोलन ने भी विशेषकर 1939 के बाद जियनवादी राज्य की परियोजना के अभिभावक के रूप में अमेरिका की ओर देखना शुरू कर दिया था, जो 1942 में आयोजित ज़ियनवादी कांग्रेस के बाल्टीमोर कार्यक्रम से स्पष्ट हो गया। डेविड बेन गुरियों के शब्दों में “हमारे राजनीतिक प्रयासों

के गुरुत्वाकर्षण का केंद्र ग्रेट ब्रिटेन से हटकर अमेरिका पहुंच गया था, जो सुनिश्चित तौर पर विश्व की अग्रणी शक्ति बनने वाला था और जहां सबसे अधिक संख्या में और साथ ही सबसे ज्यादा प्रभावशाली यहूदी बसते थे।”

1936 के फिलिस्तीन विद्रोह के बाद ब्रिटिश साम्राज्य में नियुक्त रॉयल कमीशन ने फिलिस्तीन को दो भागों में अरब और एक यहूदी राज्य के रूप में, विभाजित करने का प्रस्ताव रखा था, पर अरब देशों के ब्रिटिश सश्रयकारी शासकों ने इसका तीव्र विरोध किया, जिसके पीछे मूल कारण उनके निहित स्वार्थ ही थे। दूसरे, ब्रिटेन को भी आसन्न युद्ध में आबादी के सहयोग की ज़रूरत थी। फलतः 1939 के इस विभाजन के बारे में नर्म रुख अपनाया गया था, जिसे ज़ियनवादी नेतृत्व ने स्वीकार नहीं किया। ज़ियनवादी अब अपने साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अंशतः स्वतंत्र हो चुका था और सरपरस्त की तलाश कर रहा था जो अमेरिका के रूप में उसे मिल भी गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक फिलिस्तीन में भी यही स्थिति हो गयी थी कि यहूदी और फिलिस्तीन आबादी का सहअस्तित्व समसामयिक परिस्थितियों एवं परिवेश में संभव प्रतीत हो रहा था। 15 लाख फिलिस्तीनियों के मुकाबले उस समय वहां साढ़े छः लाख यहूदी आबादी थी और यह आबादी चाहे जैसी भी यहां लायी गयी थी या आयी थी, अब यहीं की बाशिंदा थी तथा एक अलग देश की मांग उस पूरी आबादी की मांग बन चुकी थी। साम्राज्यवादी कुचक्र, साम्राज्यवादी-ज़ियनवादी सहमेल और नात्सियों के नरसंहार के परिणामस्वरूप पैदा हुई त्रासदी विडंबना अब एक वस्तुगत सच्चाई और स्वीकारने लायक विवशता बन चुकी थी। इन्हीं स्थितियों में संयुक्त राष्ट्रसंघ में समाजवादी खेमे के देशों सहित दुनिया के अधिकांश देशों में फिलिस्तीन के विभाजन को स्वीकार कर लिया। इसके बाद भी फिलिस्तीन जनगण के दिलों पर लगे विभाजन के जख्म भर सकते थे और मध्यपूर्व में त्रासद विडंबनाओं का सिलसिला समाप्त हो सकता था। बशर्ते कि अपने स्थापना काल से ही इस्राइल का ज़ियनवादी नेतृत्व फिलिस्तीनियों के दमन का फासिस्ट रवैया नहीं अपनाता; बशर्ते कि वह मध्यपूर्व में ज़ियनवादी शह पर काम करते हुए अरब देशों के प्रति लगातार दुश्मनाना रवैया नहीं अपनाये रहता और पूरा मध्यवर्ग-पूँजीवादी विश्व के सभी अंतर्विरोधों की एक गांठ नहीं बन जाता; और बशर्ते कि अरब देशों के प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग फिलिस्तीन-समस्या की आड़ में अपना उल्लू सीधा करने की कोशिश नहीं करते, इस्राइल के प्रति भी एक व्यावहारिक और न्यायसंगत रुख अपनाते और फिलिस्तीन मुक्ति के वास्तविक हमदर्द होते। पर द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर कालीन दुनिया में मध्यपूर्व में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ और साम्राज्यवादी शक्तियों तथा क्षेत्रीय शासक वर्गों के हितों की अलग-अलग स्तरों पर लगातार

गठजोड़ और टकराव की स्थिति किसी न किसी रूप में बनी रही।

इस तरह, फिलिस्तीन के विभाजन और इस्राइल के निर्माण को स्वीकार करने के पीछे पश्चिमी शक्तियों और साम्राज्यवादी देशों एवं विश्व जनमत के लिए अलग-अलग कारण थे। इस्राइली ज़ियनवाद की शुरु से ही अपने मंसूबे और अपनी विस्तारवादी योजनाएं थीं, जिन्हें न केवल फिलिस्तीनी जनता के साथ बल्कि पूरे विश्व की जनता के साथ विश्वासघात करते हुए उन्होंने लागू करना तत्काल ही शुरू कर दिया। अमेरिकी साम्राज्यवाद इस्राइली ज़ियनवादी शासन को मध्य-पूर्व तथा पूरे मध्य एशिया की अपनी नवऔपनिवेशिक योजनाओं के एक महत्वपूर्ण मोहरे के रूप में तथा अपनी विश्व-रणनीति के एक अंग के रूप में देखता था। इसी पृष्ठभूमि में द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में मध्यपूर्व का इतिहास निर्मित हुआ।

अप्रैल, 1947 में ब्रिटेन ने फिलिस्तीन से मैण्डेट के तहत कायम अपना शासन समाप्त करने की घोषणा की और फिलिस्तीन समस्या को विचारार्थ संयुक्त राष्ट्रसंघ के एजेंडा पर रखने का प्रस्ताव रखा। 29 नवंबर, 1947 को संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा ने फिलिस्तीन के एक अरब और एक यहूदी राज्य में विभाजन और येरूशलम के अंतर्राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव पारित किया। आदर्श स्थिति तो यह होती कि उस समय फिलिस्तीन में आबाद अरब और यहूदी आबादी को आत्मनिर्णय का अधिकार देकर उनकी नियति संबंधी निर्णय लिये जाते और आबादी के अनुपात और भौगोलिक स्थिति के हिसाब से विभाजन होता, पर उस समय की दो ब्लाकों में बंटी दुनिया और शीतयुद्ध के दौर के जटिल शक्ति-संतुलन के समीकरणों की उपस्थिति में यह संभव नहीं था। इतिहास देशकाल की सीमाओं में ही आगे बढ़ता है, आदर्श स्थिति के शुद्ध मानदंडों के हिसाब से नहीं। विभाजन योजना फिलिस्तीन की अरब आबादी के प्रति निश्चित रूप से भेदभावपूर्ण थी। इसके तहत प्रस्तावित अरब राज्य को कुल क्षेत्रफल का 42.88 प्रतिशत और यहूदी राज्य को 56.47 प्रतिशत देने का निर्णय लिया गया।

नवंबर 1947 से मई 1948 के बीच इस विभाजन योजना पर अमल जिस षड्यंत्रपूर्ण ढंग से शुरू हुआ, उसने फिलिस्तीनी जन के साथ ही पूरे विश्व जनमत के साथ साम्राज्यवादियों के विश्वासघात को स्पष्ट कर दिया। ब्रिटिश फौजें क्रमशः पहले यहूदी क्षेत्रों से हटीं और ज़ियनवादी नेतृत्व को उन्होंने पूरा मौका दिया कि वे अपनी फौजी ताकत को पूरी तरह से संगठित कर लें। हंगाना, इर्गुन और स्टर्न के आतंकवादी फौजी दस्तों के अतिरिक्त द्वितीय विश्वयुद्ध में तैयार यहूदी सेना के आधार पर तथा अमेरिका-ब्रिटेन की भारी सामरिक मदद से इस छोटी सी अवधि में एक संगठित-मजबूत ज़ियनवादी फौज खड़ी हो गयी। दूसरी ओर ब्रिटिश फौजें अरब क्षेत्रों में देर तक बनी रहीं और

बाद में धीरे-धीरे हटीं। उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश मैण्डेट के तहत शासन के दौरान ही जहां यहूदी आबादी को हथियारबंद किया गया था वहीं फिलिस्तीन आबादी को पूरी तरह निरस्त्र कर दिया गया था और 1948 में वह ज़ियनवादी आतंक के विरुद्ध आत्मरक्षा में भी पूरी तरह असमर्थ थी। ज़ियनवादी आतंकवादी संगठनों ने ब्रिटिश फौजों के हटने की तारीख से पहले अधिक से अधिक संख्या में फिलिस्तीन अरब आबादी को फिलिस्तीन से निकाल बाहर करने के लिए नात्सियों के समान आतंकवादी अभियान छेड़ दिया। अनेक अत्याचारों में सर्वाधिक बर्बरतापूर्ण अप्रैल 1948 में हुआ दीर यासीन का हत्याकांड था, जिसमें इर्गुन, स्टर्न और हगाना के फौजी दस्तों ने बच्चों और 25 गर्भवती स्त्रियों को लेकर 137 औरतों सहित कुल 254 निर्दोष ग्रामीणों की निर्मम हत्या कर दी थी। इर्गुन के तत्कालीन प्रधान बेगिन ने इस घटना के राजनीतिक महत्व का उल्लेख गर्वपूर्वक किया है। दीर यासीन हत्याकांड के बाद प्रस्तावित इस्राइली क्षेत्र से बड़े पैमाने पर फिलिस्तीन आबादी का पलायन शुरू हो गया। 15 मई, 1948 को निरस्त्र-अरक्षित फिलिस्तीनियों को ज़ियनवादी आतंकवाद का सामना करने के लिए छोड़कर ब्रिटिश फौजों ने हटना शुरू किया। इस समय तक चार लाख फिलिस्तीनियों को उनके घरों से खदेड़ा जा चुका था। इसके कुछ ही घंटों पहले 14 मई, 1948 को डेविड बेन गुरियों ने इस्राइल की स्थापना का एकतरफा एलान कर दिया था। पड़ोस के मुस्लिम अरब देशों ने इस्राइल के अस्तित्व को मानने से इंकार कर दिया और उस पर हमला कर दिया, लेकिन साम्राज्यवाद-समर्थित 1,20,000 संगठित इस्राइली फौजों के हाथों उन्हें पराजित होना पड़ा।

इन सभी अरब देशों के शासक वर्ग साम्राज्यवाद के प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण में थे और इस्राइल पर हमला उन्होंने इसलिए नहीं किया था कि वे फिलिस्तीन जनता के दोस्त और उसकी मुक्ति के पक्षधर थे। इसके पीछे इन प्रतिक्रियावादी अरब शासकों के अपने निहित स्वार्थ थे। वस्तुतः फिलिस्तीन पर इनकी भी लालच भरी निगाहें टिकी थीं। दूसरे, अपने कट्टर धार्मिक कठमुल्लापन के चलते इस्राइल के विरोध के पीछे इनकी यहूदी-विरोध की भावना भी काम कर रही थी। तीसरी, ये खुद भी फिलिस्तीन आबादी का इस्तेमाल साम्राज्यवादी हितों के मोहरे के रूप में करना चाहते थे। साथ ही एक और कारण यह भी ज़रूर था कि मध्यपूर्व की पूरी अरब जनता में फिलिस्तीन जन के प्रति व्यापक सहानुभूति थी और उसका अत्याधिक दबाव इन देशों के शासक वर्गों पर पड़ रहा था। युद्ध के दौरान जार्डन (तत्कालीन ट्रांसजार्डन) ने येरूशलम के आधे भाग और समारिया एवं जूडिया (जार्डन नदी का पश्चिमी तट) पर कब्जा कर लिया और बाद में इसे फिलिस्तीन नेतृत्व के सुपुर्द करने के बजाय वह खुद को ही फिलिस्तीन हितों का एक प्रतिनिधि बताने लगा (यह दावा अभी पिछले वर्ष उसने छोड़ा है।) इधर मिस्र ने भी

गाजा पट्टी पर अधिकार कर लिया। इस्राइल का निर्माण फिलिस्तीन की 56.47 प्रतिशत भूमि पर होना था, पर 1949 की पहली छमाही में संयुक्त राष्ट्रसंघ की निगरानी में युद्ध विराम समझौतों पर हस्ताक्षर के समय उसके कब्जे में 77.4 प्रतिशत भूमि थी जिसमें येरूशलम का एक भाग भी था। ये युद्ध विराम समझौते भी इस्राइल को मिस्री मोर्चे पर हमला करने और नेगेव के समूचे क्षेत्र पर कब्जा करने से रोक नहीं सके। इस्राइल से फिलिस्तीन आबादी का बहुलांश विस्थापित होकर जार्डन, पश्चिमी किनारे, गाजा पट्टी और अन्य अरब देशों में शरणार्थी शिविरों में रहने को विवश हुआ और आज भी यही स्थिति कायम है।

अपनी ही ज़मीन पर बने नये राज्य की सीमाओं में अल्पसंख्यकों के रूप में बच रहे फिलिस्तीन अरबों को जिन उत्पीड़नों का सामना करना पड़ा, वे अकथनीय हैं। 1966 तक अरब लोग फौजी शासन के अंतर्गत थे और हर तरह के राजनीतिक एव मानवाधिकारों से वंचित थे। फौजी शासन का काम जून '67 के युद्ध तक पुलिस ने सम्हाला और उसके बाद फिर फौजी शासन लागू हो गया। औपचारिक तौर पर फौजी शासन हटने के बाद भी स्थिति में कोई गुणात्मक फर्क नहीं आया, फिलिस्तीन अपने नागरिक अधिकारों तक से वंचित रहे, तरह-तरह के भेदभावपूर्ण कानूनों के जरिये उनकी संपत्ति हड़पी जाती रही और अधिकांशतः उन्हें केवल मजदूरी, और वह भी सस्ती दरों पर, करने के लिए विवश किया जाता रहा। ज़ियनवादी आतंक लगातार जारी रहा। 1967 के युद्ध तक फिलिस्तीन अल्पसंख्यकों की लगभग 70 प्रतिशत भूमि इस्राइल में हड़पी जा चुकी थी। यही नहीं, एक बार अपनी स्थिति के सामरिक-रणनीतिक सुदृढ़ीकरण के बाद इस्राइल अपनी विस्तारवादी नीतियों का विस्तार पूरे मध्यपूर्व में करता चला गया।

पूरे क्षेत्र को इसके चलते आगे तीन बार बड़े युद्धों की आँच झेलनी पड़ी और छोटी-मोटी झड़पों और तनाव का सिलसिला लगातार चलता रहा। इस्राइल लगातार मध्यपूर्व में साम्राज्यवाद दबाव बनाये रखने का उपकरण बना रहा। पूरा क्षेत्र लगातार युद्ध की आग में जलता रहा, जिसकी सबसे बड़ी कीमत फिलिस्तीन जनता को ही चुकानी पड़ी। फिलिस्तीन-इस्राइल संघर्ष की एक बड़ी विडंबना यह रही है कि यहूदियों के लिए इस्राइल का निर्माण नात्सियों द्वारा उनके नरसंहार और भीषण जुल्म का मुआवजा था। पर यह मुआवजा फिलिस्तीनियों के लिए वैसे नरसंहार और जुल्म का कहर बन गया जिसे इतिहास नात्सी जुल्म के ही समान रखकर लंबे समय तक याद रखेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ के लगातार निंदा और आलोचना के प्रस्तावों के बावजूद इस्राइल ने फिलिस्तीन जनता पर लगातार जुल्म करके उन्हें शरणार्थी बनने के लिए विवश करना और पड़ोसी देशों पर आक्रमण करना जारी रखा जिनमें हुलेह (1950), किबिया (1953), नहालीन(1954), गाजा(1955) तिबेरियास

झील की सीरियाई चौकी (1955) पर हमला मुख्य थे। अक्टूबर 1956 में गाजा पट्टी तथा सिनाई प्रायद्वीप पर इस्राइल के हमले ने मिस्र के विरुद्ध एक बड़े युद्ध की शक्ति अख्तियार कर ली। ब्रिटेन और फ्रांस की फौजों ने स्वेज नहर की सुरक्षा के बहाने इस्राइल की ओर से युद्ध में खुलकर हिस्सा लिया। इसका मुख्य कारण यह था कि 1952 में मिस्र में साम्राज्यवाद तथा राजतंत्र विरोधी तख्तापलट के बाद सत्ता में आयी नासिर की सरकार ने उस समय की अनुकूल वैश्विक परिस्थितियों में ज्यादा मुखर साम्राज्यवाद-विरोधी अवस्थिति अपनायी थी और 1956 में ब्रिटिश और फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों की पूर्ण अवज्ञा करते हुए स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया था। फिलिस्तीन मुक्ति के बारे में भी नासिर का रुख अधिक स्पष्ट ईमानदार और मुखर था। नासिर के प्रभाव में पूरे अरब विश्व में उग्र राष्ट्रीय चेतना तेजी से विकसित हो रही थी, जिसे रोकने के लिए पश्चिमी ताकतों ने एक बार फिर इस्राइल को मोहरा और मददगार बनाया। लेकिन एक ओर अंतर्साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों और दूसरी ओर समाजवादी खेमे से मिले समर्थन ने मिस्र को ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों का दबाव झेलने में मदद की। इन्हीं कारणों से और राष्ट्रीय आंदोलनों के उभार और जीत के उस दौर में एकजुट होते जा रहे आजाद तृतीय विश्व के देशों एवं विश्व जनमत के दबाव के नाते 1957 में ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी फौजों के मध्य पूर्व से हटना पड़ा और सिनाई क्षेत्र से पीछे हटकर इस्राइल को भी संयुक्त राष्ट्र संघ के युद्धविराम तथा मिस्र-इस्राइल सीमा पर संयुक्त राष्ट्र संघ की आपातकालीन सेना की तैनाती का प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। इसके बाद भी 1967 तक सीरिया और जॉर्डन के कब्जे में स्थित फिलिस्तीन भूभाग (पश्चिमी किनारे) पर इस्राइल ने अपने हमले जारी रखे।

1967 में पश्चिमी साम्राज्यवादियों के समर्थन और मुख्यतः अमेरिका की भारी मदद के सहारे इस्राइल ने पश्चिमी किनारे, गाजा पट्टी, मिस्र के सिनाई क्षेत्र की सीमा तथा सीरिया व जॉर्डन की सीमा पर बड़े पैमाने पर हमला किया। इस छः दिवसीय युद्ध में इस्राइल ने जॉर्डन के कब्जे से पश्चिमी तट और मिस्र के कब्जे से गाजा पट्टी को छीनकर पूरे फिलिस्तीन भूभाग पर अपना कब्जा जमा लिया। छः दिवसीय युद्ध में नासिर के नेतृत्व में मिस्र को भारी पराजय का सामना करना पड़ा और उसका पूरा सिनाई क्षेत्र स्वेज नहर तक इस्राइल के कब्जे में आ गया। इधर सीरिया की गोलन पहाड़ियों का क्षेत्र भी इस्राइल के कब्जे में आ गया। पश्चिमी तट से जॉर्डन नदी के पूर्वी तट की ओर लाखों फिलिस्तीन शरणार्थियों के रेले नये सिरे से उमड़ पड़े। इस्राइलियों के हाथों मिस्री सेनाओं की पराजय के पीछे इस्राइल को साम्राज्यवादियों की भारी मदद के साथ ही मिस्र के प्रति रूसी विश्वासघात की भी कुछ कम भूमिका नहीं थी। समाजवाद का मार्ग छोड़ने के बाद रूसी शासक वर्ग अब खुद ही अपने वैश्विक

प्रभुत्व की आकांक्षाओं के साथ विश्व पैमाने की होड़ में उतर चुका था। धारा अब पलट चुकी थी। साम्राज्यवादियों का रवैया अब रक्षात्मक नहीं रह गया था और वे राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के विरुद्ध अधिक खुले रूप में आक्रामक हो उठे थे। इस वैश्विक परिस्थिति ने भी 1967 युद्ध में अरबों की पराजय में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

1966-67 का दौर : नयी चुनौतियों और गहराते संकट के दौर में आगे बढ़ते फिलिस्तीन प्रतिरोध संघर्ष का इतिहास

1967 के युद्ध के परिणामस्वरूप फिलिस्तीन मुक्ति की यात्रा में एक नया महत्वपूर्ण मोड़ आया। अब पूरे फिलिस्तीन पर इस्राइल का आक्रामक आधिपत्य कायम था। लगभग आधी फिलिस्तीन आबादी जॉर्डन, लेबनान और अन्य अरब देशों के शरणार्थी शिविरों में रह रही थी। अब इस पूरी आबादी को अपने खोये हुए देश की प्राप्ति के लिए अपने एकमात्र शत्रु इस्राइल से लड़ना था। 1967 में अरब देशों की पराजय ने फिलिस्तीन जनता में यह अहसास भी शिद्दत के साथ पैदा कर दिया कि इस्राइल के विरुद्ध दीर्घकालिक ओर जीवन-मरण की लड़ाई उन्हें अपने बूते पर लड़नी होगी और अरब देश इसमें उनकी सीमित मदद ही कर सकते हैं। अरब देशों के शासकों का वर्ग-चरित्र उनके सामने था। उनकी सहायता और फिलिस्तीन हितों की पैरोकारी का मुख्य कारण उन देशों की अरब जनता का उनके ऊपर दबाव था। दूसरा कारण उनके अपने राष्ट्रीय हित थे, जिनके चलते व्यापक स्तर पर, आंशिक रूप से साम्राज्यवादी शक्तियों और क्षेत्रीय स्तर पर इस्राइल के विरुद्ध एकजुट होकर खड़े होना उनकी अपनी जरूरत थी तथा एक हद तक उनकी क्षेत्रीय महत्वकांक्षाओं की परिचालक भी थी। फिलिस्तीन हितों का स्वयंभू प्रतिनिधि और ठेकेदार बनकर जॉर्डन ने अपने चरित्र और नीयत को पहले ही उजागर कर दिया था। आगे के घटनाक्रम में हम देखेंगे कि सीरिया भी फिलिस्तीन मुक्ति संघर्ष के नेतृत्व में अपनी शर्तों पर मदद देकर तथाकथित स्वयंभू संरक्षकत्व के अंतर्गत रखना चाहता था और इसके लिए फिलिस्तीन प्रतिरोध के नेतृत्व को ब्लैकमेल करने, धमकाने, अलगाव में डालने और उनमें फूट पैदा करने से ही नहीं, उनके विरुद्ध खुलेआम आक्रमण करने, त्रिपोली से उन्हें हटाने और बेक्का घाटी से फिलिस्तीनियों को सेना द्वारा खदेड़ने से भी वह बाज नहीं आया। लीबिया भी अपने संकीर्ण राष्ट्रीय स्वार्थों के लिए फिलिस्तीन मुक्ति मोर्चे में फूट पैदा करने से बाज नहीं आया। 1978 के कैंप डेविड समझौते में इस्राइल के आगे घुटने टेकने में मिस्र के शासक वर्ग की अपनी विवशताएं थीं और इसके पीछे सोवियत साम्राज्यवाद के विश्वासघात का भी हाथ था, पर फिलिस्तीन हितों के प्रति उनकी गह्वारी भी एक सच्चाई थी, जो उनके असली चरित्र को स्पष्ट करती थी। अन्य अरब देशों के प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ शासकों का भी असली चरित्र यही है।

फिलिस्तीन मुक्ति के ईमानदार समर्थक वे कभी नहीं रहे हैं। जिन कुछ अरब देशों में पचास और साठ के दशक में राष्ट्रीय मुक्ति के बाद अलग-अलग सीमा तक लोकप्रिय तथा एक हद तक साम्राज्यवाद-विरोधी बुर्जुआ सत्ताएं स्थापित हुई थीं, वे अपने उस दौर के चरित्र और हितों के चलते फिलिस्तीन मुक्ति की सापेक्षतः अधिक ईमानदार पक्षधर थीं, पर अपने चरित्र के प्रतिक्रियावादी पक्ष के मुखर होते जाने के साथ ही उनके भी रुख-रवैये में बदलाव आता गया। विभिन्न प्रतिक्रियावादी अरब सत्ताओं-शेखों और शाहों की कभी भी फिलिस्तीन जनता के प्रति सच्ची हमदर्दी नहीं थी। मध्यपूर्व की पश्चिमी खेमे और अमेरिका साम्राज्यवाद की ओर झुकी सत्ताएं भी यदि फिलिस्तीन मुक्ति का समर्थन करती रही हैं तो इसका मुख्य कारण इन देशों की जनता का इसके लिए इन पर लगातार पड़ने वाला दबाव तथा फिलिस्तीन जनता के साथ उसकी एकजुटता रही है। दूसरा प्रमुख कारण, मध्यपूर्व में इस्राइल की आक्रामक मौजूदगी से उनको अपने हितों के लिए लगातार महसूस होते रहने वाला खतरा रहा है। यदि फिलिस्तीनियों को उनका देश नहीं मिल जाता तो अरब देशों में बिखरी फिलिस्तीन आबादी अपने मुक्ति संघर्ष की देन-क्रांतिकारी स्पिरिट, बगावत का जज़्बा और नये जीवन मूल्यों के बीज लगातार अरब देशों के व्यापक जनसमुदाय में फैलाती रहेगी, यह खतरा भी लगातार अरब शासकों का दुःस्वप्न बना रहा है।

अरब देशों के शासक वर्गों का यह प्रतिक्रियावादी वर्ग-चरित्र और अवस्थिति आज जिस हद तक स्पष्ट है, उतना 1967 में तो नहीं था, पर उसकी दिशा काफी हद तक स्पष्ट हो चुकी थी। 1967 के युद्ध में अरब देशों की पराजय ने फिलिस्तीन प्रतिरोध-संघर्ष के नेतृत्व को ठोस ज़मीन पर लाकर खड़ा किया और कई मुद्दों पर असमंजस की स्थिति को दूर कर दिया। उनकी एकजुटता की प्रक्रिया को भारी गति मिली और छापामार प्रतिरोध-युद्ध पहली बार संगठित रूप में शुरू हुआ जो तत्काल, एक वर्ष के भीतर ही इस्राइल के जियनवादी राज्य-आतंकवाद के लिए एक सिरदर्द और चुनौती बन गया।

फिलिस्तीन मुक्ति-युद्ध का पहला मुख्य पड़ाव मई, 1964 था, जब येरुशलम में, उस समय तक गठित सभी फिलिस्तीन संगठनों का एक सम्मेलन हुआ जिसे बाद में फिलिस्तीन राष्ट्रीय परिषद का पहला अधिवेशन माना गया। फिलिस्तीन सशस्त्र मुक्ति दस्तों, ट्रेड यूनियनों, जन संगठनों और राजनीतिक संगठन के 400 प्रतिनिधियों ने इसमें हिस्सा लिया। लेकिन 1964 से 1967 तक फिलिस्तीन राष्ट्रीय परिषद के राजनीतिक नेतृत्व से संबंधित प्रश्न हल नहीं हो सका था जिसमें छापामार मुक्ति योद्धाओं के साथ-साथ विभिन्न अरब राष्ट्र समर्थक गुट भी मौजूद थे। 1967 के युद्ध ने इस दुविधापूर्ण स्थिति को समाप्त कर दिया। इस युद्ध के बाद मिस्र, सीरिया और जॉर्डन ने

संयुक्त राष्ट्रसंघ सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव 242 को मान्यता देकर इस्राइल के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया लेकिन फिलिस्तीन के भविष्य के बारे में कोई गारंटी तो दूर, आश्वासन तक नहीं हासिल किया। उस समय की अमेरिका साम्राज्यवादी जियनवादी गठजोड़ की उग्र आक्रामक स्थिति और वैश्विक तथा क्षेत्रीय शक्ति संतुलन को देखते हुए, स्वाभाविक था कि फिलिस्तीन मुक्ति योद्धा भी इस्राइल के अस्तित्व को मान्यता न दें और उन्होंने ऐसा ही किया। सभी मुक्ति संगठनों ने एकजुट होकर फिलिस्तीन मुक्ति संगठन (पी.एल.ओ.) का निर्माण किया और प्रस्ताव संख्या 242 की शर्तों का विकल्प संगठित दीर्घकालिक सशस्त्र मुक्ति संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया।

मार्च, 1968 में फिलिस्तीन छापामार दस्तों ने जॉर्डन नदी के पश्चिमी किनारे के अधिकृत क्षेत्र स्थित एक छोटे से शहर करामे से इस्राइली सेना को पीछे हटने के लिए मजबूर कर दिया। इस पहली छोटी सी प्रत्यक्ष जीत का फिलिस्तीन मुक्ति-संघर्ष के लिए प्रतीकात्मक महत्व था, जिसने उसे एक नया संवेग और आत्मविश्वास प्रदान किया। फरवरी, 1969 में काहिरा में आयोजित अपने पांचवे अधिवेशन में फिलिस्तीन राष्ट्र परिषद ने जो एक 'निर्वाचित संसद' की तरह काम करने लगी थी। पी. एल.ओ. की कार्यकारी समिति के अध्यक्ष पद के लिए सबसे बड़े घटक छापामार संगठन 'अल फतह' के यासेर अराफात को चुनकर सशस्त्र संघर्ष के अंतिम निर्णय पर निर्णायक पुष्टि की मुहर लगा दी। पी.एल.ओ. का सबसे बड़ा घटक जार्ज हबाश के नेतृत्व वाला मार्क्सवादी गुट पी.एफ.एल.पी. भी सशस्त्र संघर्ष का प्रबल समर्थक था। प्रतिरोध संघर्ष के तेज होने के साथ ही इस्राइली सेना ने फिलिस्तीन शरणार्थी शिविरों पर धुआंधारी बमबारी जारी रखी और इस सिलसिले को लगभग एक दशक तक लगातार जारी रखा, पर मुक्ति योद्धाओं और जनता के संकल्प कमजोर पड़ने के जगह और मजबूत होते गये और बमबारी से तबाह शरण शिविरों से छापामार दस्तों में शामिल होने वाले नौजवानों की संख्या लगातार बढ़ती ही चली गयी।

जॉर्डन के शाह हुसैन ने इस्राइल के विरुद्ध फिलिस्तीन मुक्ति संगठन की रणनीति से मतभेद की आड़ लेकर खुद को फिलिस्तीन हितों का प्रतिनिधि घोषित कर दिया और सितम्बर, 1970 में जॉर्डन स्थित मुक्ति योद्धाओं के अड्डों पर बाकायदा सैनिक हमला कर दिया। "काले सितम्बर" नाम से मशहूर इस हत्याकांड के बाद फिलिस्तीन मुक्ति सैनिक जॉर्डन से हटने पर विवश हुए। उन्होंने इसके बाद अपना नया केंद्र लेबनान को बनाया जहां पहले से ही शरणार्थी शिविरों में करीब सात लाख फिलिस्तीन रह रहे थे। लेकिन लेबनान में न केवल उनके ठिकानों पर, बल्कि शरणार्थी शिविरों की आम आबादी पर भी लगातार हमले करके इस्राइल सेनाएं उनके मनोबल को तोड़ने की असफल कोशिश करती रहीं।

1973 के प्रसिद्ध योम किप्पुर युद्ध में मिस्र और सीरिया की सेनाओं ने पहली बार इस्त्राइलियों को भारी क्षति पहुंचाई, लेकिन जल्दी ही इस्त्राइली सेनाओं ने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली और स्वेज नहर में मिस्री सेना को घेरे के साथ ही सीरिया की सेना को पीछे धकेल कर दमिश्क तक जा पहुंची। यह वह समय था जब दो अति महाशक्तियों के उग्र प्रतिस्पर्द्धा में रूसी साम्राज्यवादी उग्र आक्रामक रुख अपनाये हुए थे। 1973 के युद्ध में उन्होंने अपनी विश्व रणनीति के तहत अरब राष्ट्रों की सहायता की। ओपेक देशों ने भी अरब राष्ट्रवादियों के साथ एकजुटता प्रदर्शित की और साम्राज्यवादियों के विरुद्ध कड़े कदम उठाये। तेल के मूल्य बढ़ाने और तेल का कोटा निश्चित करने की उनकी संयुक्त कार्रवाई उनके संसाधनों के साम्राज्यवादी लूट के खिलाफ तथा ओपेक देशों सहित तीसरी दुनिया द्वारा लगातार झेल जाने वाले आर्थिक वर्चस्व के खिलाफ एक अत्यंत कारगर अस्त्र सिद्ध हुई इसके परिणामस्वरूप पूरी दुनिया और मध्य पूर्व में जो परिस्थितियां निर्मित हो रही थीं, वे दूरगामी एवं व्यापक तौर पर फिलिस्तीन मुक्ति के हित में थीं, लेकिन तत्काल इससे फिलिस्तीन मुक्ति संघर्ष को कोई विशेष प्रत्यक्ष लाभ नहीं मिला। यह जरूर हुआ कि बदलती विश्व परिस्थितियों, उग्र अंतर्साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों तथा तीसरी दुनिया के देशों की बढ़ती राजनैतिक आजादी एवं बढ़ती एकजुटता के माहौल में फिलिस्तीन मुक्ति आंदोलन के नेतृत्व ने सशस्त्र संघर्ष के साथ-साथ कूटनीतिक मुहिम (डिप्लोमेटिक ऑफेंसिव) की भी पहली बार शुरुआत की और काहिरा में आयोजित फिलिस्तीन राष्ट्रीय मुक्ति संगठन की बारहवीं बैठक में फिलिस्तीन मुक्ति संगठन ने अपने परिप्रेक्ष्य के व्यापकतम अंतर्राष्ट्रीय मान्यता के लिए नया रणकौशल अपनाया। पहली बार उसने नवंबर, 1984 के बाद सुरक्षा परिषद द्वारा पारित प्रस्ताव 181 और 242 सहित सभी प्रस्तावों को स्वीकारने की इच्छा परोक्षतः जाहिर की, जो फिलिस्तीन भूभाग के विभाजन और इस्त्राइल के अस्तित्व को मान्यता देते थे। यह आगे के कूटनीतिक संघर्ष का आधार था। इसका एक नतीजा तत्काल यह सामने आया कि रबात अरब सम्मेलन में अक्टूबर 1974 में फिलिस्तीन मुक्ति संगठन को फिलिस्तीन जन समुदाय का एकमात्र वैध प्रतिनिधि स्वीकार किया गया। तत्काल ही उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ में अधिकारिक पर्यवेक्षक का दर्जा भी मिल गया और अगले ही माह यासेर अराफात ने पहली बार राष्ट्रसंघ महासभा के समक्ष अपने भाषण में स्वतंत्र फिलिस्तीन के धर्मनिरपेक्ष जनवादी राज्य के अपने उद्देश्य को स्पष्ट किया जिसमें मुस्लिम, यहूदी और ईसाई आबादी को समान अधिकार देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। जल्दी ही फिलिस्तीन मुक्ति संगठन निर्गुट आंदोलन, इस्लामी सम्मेलन संगठन, अफ्रीकी एकता संगठन आदि कई अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर सक्रिय हिस्सेदारी करने लगा और उसे मान्यता देने

वाले देशों की संख्या इस्त्राइल को मान्यता देने वाले देशों की संख्या से भी कहीं अधिक हो गयी।

लेकिन इन उपलब्धियों का सिलसिला आगे बढ़ने की जगह ठहराव और संकट का नया दौर भी जल्दी ही शुरू हो गया।

1977-87 : गतिरोध और संकट के कठिनतम दौर में मुक्ति-संघर्ष

1977 में मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात का झुकाव अमेरिका की ओर तेजी से बढ़ा। इसका मुख्य कारण यह था कि सोवियत रूस से उसके ऊपर अपना दबाव बहुत अधिक बढ़ा दिया था और मदद की उसकी कड़ी शर्तें लगभग ब्लैकमेलिंग की शक्ति ले चुकी थीं। मिस्र और लीबिया के अंतर्विरोधों में लीबिया का पक्ष लेकर उसने मिस्र पर अपना दबाव और अधिक बढ़ा दिया था। राष्ट्रीय आंदोलनों और तीसरी दुनिया के देशों को अपनी मदद पर निर्भर बना कर उन पर कड़ी शर्तें लाना तथा उनमें फूट पैदा करना रूसी साम्राज्यवादियों की पुरानी बदनाम नीति थी जिसके चलते मिस्र की बुर्जुआ सत्ता ने अमेरिकी साम्राज्यवाद का दामन थामने का विकल्प चुना जिसकी चरम परिणति था 1979 का कैम्प डेविड समझौता जो अमेरिकी देखरेख में मिस्र और इस्त्राइल के बीच हुआ और जिसमें अपने संकीर्ण हितों की पूर्ति के लिए, मुख्यतः इस्त्राइल द्वारा हड़पे गये अपने भूभाग को प्राप्त करने के लिए मिस्र ने अरब बिरादरी से अलग हटकर फिलिस्तीन हितों के साथ विश्वासघात किया। इस समझौते में उसने अधिकृत क्षेत्र में इस्त्राइली प्रभुत्व के अंतर्गत तथाकथित फिलिस्तीन स्वायत्ता की अस्पष्ट अवधारणा को अपनी स्वीकृति दे दी। इसके परिणामस्वरूप 1982 तक कई चरणों में पीछे हटकर इस्त्राइल ने सिनाई प्रायद्वीप मिस्र को लौटा दिया, पर अरब बिरादरी में फूट पड़ गयी। मिस्र को अरब लीग से निष्कासित कर दिया गया। मिस्र की ओर से निश्चित होने के बाद इस्त्राइल ने फिलिस्तीन मुक्ति योद्धाओं पर अपना दबाव बढ़ा दिया कि अधिकृत क्षेत्र में तथा गोलन पहाड़ियों के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर यहूदी आबादी को बसाकर अपने कब्जे को स्थायी बनाने में लग गया। 1982 तक पश्चिमी किनारे के क्षेत्र में 100 यहूदी बस्तियां बसाई जा चुकी थी और कुल भूमि का 2/5 भाग उन्हें हस्तांतरित किया जा चुका था। इसके पूर्व 1980 में ही येरुशलम को इस्त्राइल ने अपनी राजधानी घोषित कर दिया था। इस दौरान एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि मिस्र के साथ इस्त्राइल की बातचीत पुनः ठहराव की स्थिति में पहुंच गयी। अधिकृत क्षेत्र में स्वायत्तता का इस्त्राइली विचार अत्यंत सीमित था जिससे मिस्र सहमत नहीं था।

1982 में लेबनान पर इस्त्राइल के दूसरे हमले और शातिला एवं साबिरा शरणार्थियों के भीषण नरसंहार ने फिलिस्तीन मुक्ति योद्धाओं के लिए नये संकट का दौर ला उपस्थित किया। 1983

में ही सीरियाई सेना भी बड़े पैमाने पर लेबनान में घुस आयी, लेकिन उसने कहीं भी इस्राइली फौज से टकराव नहीं मोल लिया, इससे उसकी मंशा साफ थी। 2 नवंबर से 20 नवंबर, 83 तक त्रिपोलों में यासेर अराफत और चार हज़ार मुक्ति योद्धाओं को घेरे रखकर सीरिया ने अपनी मंशा जाहिर कर दी। इस्राइली सेना को जहां अमेरिकी साम्राज्यवाद और लेबनान के दक्षिणपंथी ईसाई फैलेजिस्टों का सहयोग प्राप्त था वहीं क्षेत्रीय स्तर पर अपने प्रभुत्व के लिए प्रयासरत सीरियाई शासक वर्ग की सेनाओं को सोवियत साम्राज्यवाद का समर्थन और प्रोत्साहन प्राप्त था। फिलिस्तीन मुक्ति मोर्चे को अपनी उंगलियों पर नचा सकने में असफल सीरिया के राष्ट्रपति ने एक छोटे से सीरिया-समर्थक फिलिस्तीन गुट का आड़ के रूप में इस्तेमाल किया। लेबनान के घटनाक्रम ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि रूसी साम्राज्यवादी दुनिया के मुक्ति संघर्षों का समर्थन केवल अपने वैश्विक हितों की पूर्ति की ही शर्त पर करते रहे हैं और यही कारण है कि आज जब अपनी आंतरिक जरूरतों-विवशताओं के चलते वे अमेरिका साम्राज्यवाद और पश्चिम के साथ तनाव और टकराव को फिलहाल कम करने में लगे हुए हैं तो उन्होंने क्षेत्रीय प्रभाव-विस्तार के लिए प्रयासरत सीरियाई शासक वर्ग को भी समर्थन-सहयोग देना उसी तरह कम कर दिया है जैसा कि वह आज पूरी दुनिया में कर रहे हैं।

पिछले दशक (1979-89) का पूर्वार्द्ध फिलिस्तीनी जनता के संघर्ष के लिए अत्याधिक कठिन और नाजुक दौर था। लेबनान में इस्राइल और सीरिया के हमलों के बाद फिलिस्तीन मुक्ति संघर्ष को एक गंभीर धक्का लगा था। लेकिन साथ ही, 1982 के बाद फिलिस्तीन जनता इस बात को अच्छी तरह समझने लगी थी कि अधिकांश अरब देशों से अब कोई अपेक्षा नहीं की जा सकती। जार्डन तथा मिस्र की भूमिका पहले ही स्पष्ट हो चुकी थी। सीरिया फिलिस्तीन प्रतिरोध-संघर्ष की मुख्यधारा को अपना पिछलग्गू बनाने में असफल होने के बाद खुला दुश्मनाना रवैया अपना चुका था और एक छोटे से फिलिस्तीन गुट को पूरा समर्थन देकर विघटनकारी भूमिका निभाने लगा था। लीबिया भी अपने संकीर्ण राष्ट्रीय स्वार्थों की प्राथमिकता के चलते फिलिस्तीन मुक्ति संगठन के मुख्य हिस्से के विरोध में तथा एक छोटे से उग्रवादी गुट के समर्थन में खड़ा था। खाड़ी के देश अपने संघर्ष में उलझे हुए थे। अन्य तेल धनी अरब देश पूरी तरह ठंडी असंपृक्तता और उपेक्षा का रुख अपनाये हुए थे। लेबनान से हटने को विवश मुक्ति योद्धाओं और उनके समर्थकों को कोई देश अपने यहां जगह तक देने के लिए तैयार नहीं था। केवल ट्यूनीशिया और अल्जीरिया ही उन्हें जगह देने और अपना हेडक्वार्टर कायम करने की अनुमति देने को तैयार थे।

इन प्रतिकूल परिस्थितियों में फिलिस्तीन मुक्ति संघर्ष के

विभिन्न घटकों में फूट-बिखराव इस हद तक बढ़ चुका था कि जगह-जगह उनमें हथियारबंद टकराव भी होने लगे थे। इधर इस्राइल उनके ठिकानों पर ही नहीं, आम रिहायशी बस्तियों और अस्पतालों-स्कूलों तक पर हमले एवं बमबारी करके उनके मनोबल को तोड़ने का प्रयास कर रहा था। यह कठिनतम दौर था। पर साथ ही यह पुनरावलोकन का, अतीत एवं वर्तमान के अनुभवों की वस्तुगत समीक्षा का, इतिहास से जरूरी सबक लेने का भी दौर था। इस दौर में आने वाले नये दौर की प्रस्तावना लिखी जा रही थी। आम फिलिस्तीन जनता भी यह समझने लगी थी कि उसकी मुक्ति की एकमात्र शर्त यह है कि उन्हें सिर्फ अपने भरोसे पर इस्राइली हमलावरों और अमेरिकी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध जीवन-मरण का संघर्ष छेड़ना होगा। पूरे अरब इस्राइल संघर्ष में अन्य अरब देशों के साथ भागीदार बनकर लड़ने और इस्राइली आक्रांताओं की पराजय के बाद फिलिस्तीन राष्ट्र का भूभाग हासिल कर पाने की उम्मीदें खत्म हो चुकी थीं। साथ ही यह भी स्पष्ट लगने लगा था कि विभिन्न देशों के शरणार्थी शिविरों में बिखरी आबादी के बीच से संगठित मुक्ति योद्धाओं के छापामार दस्तों की सशस्त्र कार्रवाइयों एवं इस्राइली ठिकानों पर उनके हमलों मात्र से ही लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होने वाली हैं व्यापक जन कार्रवाई और व्यापक जन प्रतिरोध भी संगठित करना अपरिहार्य है-यह स्पष्ट होता जा रहा था। और फिलिस्तीन मुक्ति संघर्ष के वर्तमान नये दौर का यही प्रस्थान बिंदु था।

इस दशक के शुरू से लेकर 1987 तक सापेक्षिक प्रतिरोध एवं संकट के दौर में सीरिया और लीबिया समर्थित छोटे आतंकवादी गुटों के अतिरिक्त फिलिस्तीन मुक्ति संगठन के मुख्य घटक भी नीतियों के सवाल पर आपस में बुरी तरह बंटे हुए थे। मुख्यधारा का झुकाव इस ओर था कि फिलहाल ज़्यादा नरम रुख अपनाकर और विश्व जनमत को ज्यादा से ज्यादा साथ लेकर इस्राइल से, जो संभव हो, हासिल करने का प्रयास किया जाए, जबकि दूसरी प्रबल धारा कूटनीतिक-राजनीतिक प्रयासों की जगह सशस्त्र संघर्ष को ही नये सिरे से तेज करने पर जोर दे रही थी। जो भी हो, आज की स्थितियों और परिणामों ने स्पष्ट कर दिया है कि संकट के उस दौर में मुक्ति-संगठन के नेतृत्व ने जो व्यावहारिक रणनीति अपनायी थी जो कूटनीतिक पहलकदमी ली थी, वह उसकी समझौतापरस्ती नहीं, बल्कि सोच-विचार के उठाया गया उचित और समयानुकूल कदम था। इस समय तक कैप डेविड समझौते के मसले पर इस्राइल की नीयत स्पष्ट होने के बाद मिस्र के साथ उसके संबंधों में ठहराव आ चुका था। इस अनुकूल समय पर, दिसंबर 1983 में यासिर अराफात ने मिस्र से बातचीत कर उसे मुख्यधारा में लाने की कोशिश शुरू कर दी। यह इसलिए भी जरूरी था कि फिलिस्तीन समस्या के अंतिम समाधान के प्रयासों में अन्य सीमावर्ती देशों

सीरिया, लेबनान और जॉर्डन के साथ ही मिस्र भी एक पार्टी था और गाजा पट्टी का सवाल सीधे उससे जुड़ा हुआ था। इसके साथ ही अम्मान में फिलिस्तीन राष्ट्रीय परिषद की 17वीं बैठक में जॉर्डन के शाह के साथ भी पी.एल.ओ. नेतृत्व का एक समझौता हुआ जिसका उद्देश्य अधिकृत क्षेत्र में फिलिस्तीन राज्य कायम करने के प्रयासों को एक जॉर्डन-फिलिस्तीन संघ के दायरे में आगे बढ़ाने के लिए निर्णय लेना था। यही नहीं पी.एल.ओ. ने इस्राइल तथा अमेरिका से बातचीत के लिए अपनी ओर से जार्डन के शाह को अधिकृत भी किया। पर शाह ने अमेरिका से अपनी बातचीत में तत्काल ही पी.एल.ओ. को किनारे कर किसी समाधान तक पहुंचने की कोशिश शुरू कर दी जिसके चलते अम्मान समझौता भंग हो गया और अम्मान स्थित पी.एल.ओ. कार्यालय को बंद करने के साथ ही जॉर्डन ने पी.एल.ओ. नेतृत्व को देश से बाहर निकलने को कह दिया। इसके बावजूद पी.एल.ओ. ने धैर्य एवं विवेक से काम लेते हुए जॉर्डन के साथ अपने संबंध नहीं तोड़े जबकि जॉर्डन ने तुरंत सीरिया के साथ अपने संबंध सुधारक 'फिलिस्तीन कार्ड' के अपने पक्ष में इस्तेमाल की साजिश शुरू कर दी। दोनों देशों के क्षुद्र स्वार्थों के टकराव के कारण उनकी यह दुरभिसंधि टूट गयी।

फिलिस्तीन मुक्ति संगठन की कमज़ोर स्थिति को उस समय थोड़ा बल मिला जबकि 1983 में अल्जीयर्स में हुई बैठक में कुछ छोटे, सीरिया या लीबिया समर्थित और उग्रवादी गुटों को छोड़कर सभी प्रमुख घटक एक बार फिर अपनी एकता बहाल करने में सफल रहे। यह प्रधानतः फिलिस्तीन जन समुदाय के व्यापक दबाव और संघर्ष की अपरिहार्य आवश्यकता के प्रबल अहसास का ही परिणाम था। अंधेरे के एक दशक के बाद आशा की रक्तिम किरणें क्षितिज पर फिर दिखायी देने लगी थीं। ठीक इसी समय दिसंबर, 1987 में गाजा पट्टी और पश्चिमी किनारे के अधिकृत फिलिस्तीन क्षेत्र में एक व्यापक जन उभार अपनी प्रचंड शक्तिमत्ता और विपुल ऊर्जा के साथ फूट पड़ा। चालीस वर्षों के फिलिस्तीन मुक्ति संघर्ष के इतिहास में व्यापक जन समुदाय की शिरकत वाला यह जनांदोलन इन्तिफ़ादा नयी परिघटना और एक नयी शुरुआत थी। 'इन्तिफ़ादा' पर पूरी दुनिया की निगाहें टिक गयीं। दीर्घकालिक जन मुक्ति संघर्ष के पिछले दो वर्षों से जारी इस सर्वथा नये चरण ने पहली बार पूरे मध्यपूर्व में इतना बड़ा उलट-फेर पैदा किया है और फिलिस्तीन मुक्ति के भविष्य को इस कदर सुनिश्चित और आसान बना दिया है जैसा पहले कभी नहीं था।

इन्तिफ़ादा - जन मुक्ति-संघर्ष का नया अध्याय

फिलिस्तीन के एक गांव बैत सहौर में हुई एक चाय पार्टी कुछ पत्रकारों को ऐतिहासिक 'बोस्टन टी पार्टी' की याद दिला रही है जिसमें अमेरिका की आज़ादी की लड़ाई के बीच बोए गए थे क्योंकि बैत सहौर गांव के बुजुर्गों ने भी इस्राइली प्रमुख की

अवज्ञा कर इन्तिफ़ादा के प्रति एक जुटता का प्रदर्शन किया है। आज अधिकृत क्षेत्र में अरब इन फ़रादियात (अस्मिता) पर बल दिया जा रहा है और बढ़ती आत्मनिर्भरता का यह हाल है अंडो का 10 दूध का 30 और सब्जियों का 10 प्रतिशत ही बाहर से मंगाना पड़ता है।

इन्तिफ़ादा के रूप में संघर्ष के एक सर्वथा नये रूप के प्रस्फोट और इसके व्यापक प्रभाव ने इस्राइली शासकों और अमेरिकी महाप्रभुओं को हतप्रभ कर दिया। इसके पहले अधिकृत क्षेत्र में छिटपुट आंदोलन या कुछ छापामार कार्रवाइयां तो हुई थीं पर स्वतःस्फूर्त रूप से शुरू हुए जनांदोलन के इतने व्यापक एवं संगठित जनउभार की शक्ल अख्तियार कर लेने के बारे में ज़ियनवादियों और उनके सरपरस्तों ने कल्पना तक नहीं की थी। वे खतरा हमेशा बाहर से, अरब देशों में स्थित शिविरों में रहने वाले फिलिस्तीनियों और विशेष रूप से फिलिस्तीन मुक्ति संगठन से ही महसूस करते थे और इसी आधार पर अपनी सामरिक एवं कूटनीतिक रणनीति बनाते थे। अधिकृत फिलिस्तीन क्षेत्र की आम जनता का प्रतिरोध आंदोलन चालीस वर्षों में पहली बार, और पहली ही बार इतने बड़े पैमाने पर फूट पड़ा था और यह उनके लिए अप्रत्याशित था। यह स्वाभाविक है, क्योंकि प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग इतिहास की गति और जनता की शक्ति एवं सर्जनात्मकता से अपरिचित होते हैं पर दुनिया के क्रांतिकारियों के लिए यह अप्रत्याशित नहीं था, इतिहास ने बार-बार साबित किया है कि शासकों के विकटतम विस्तारवादी मंसूबे और हथियारों के जखीरे भी जनसंघर्षों के महासमुद्र में डूब जाते हैं। हर देश की जनता अपने संघर्षों के इतिहास से, अतीत की क्रांतियों से सीखती तो है, पर संघर्ष के रूपों को उधार कभी नहीं लेती। हर दौर में वह सर्वथा नये रूपों-दस्तों की सर्जना करती है। इन्तिफ़ादा एक ऐसी ही महत्वपूर्ण परिघटना है जिसमें पूरे मध्यपूर्व में इतिहास की गति को त्वरान्वित करने में पिछले दो वर्षों से लगातार केंद्रीय भूमिका निभायी है। पिछले चालीस वर्षों की यातनाओं कुर्बानियों और संघर्ष की ठोस उपलब्धि पहली बार स्वतंत्र फिलिस्तीन राज्य की घोषणा के रूप में, प्रधानतः इसी के परिणामस्वरूप सामने आयी है। स्वतंत्र फिलिस्तीन राज्य को अब तक दुनिया के 104 देशों की मान्यता मिल चुकी है। विगत दो वर्षों के दौरान पूरे विश्व और मध्य पूर्व के शक्ति-संतुलनों में जबर्दस्त बदलाव आए हैं तथा साम्राज्यवादी विश्व और यहां तक की इस्राइली शासक वर्ग भी आपस में बुरी तरह बंट गया है।

25 नवंबर, 1987 खालेद अक्रा नामक एक फिलिस्तीन ने हैंड ग्लाइडर के सहारे लेबनान सीमा पार करके किर्यात शिमोना के निकट एक इस्राइली सैनिक शिविर पर हमला किया जिसमें छः इस्राइली सैनिक मारे गए। इस घटना के दो सप्ताह बाद गाजा पट्टी में सेना के एक वाहन ने 4 फिलिस्तीनियों को कुचल

दिया। हालांकि इसे दुर्घटना बताया गया, पर वस्तुतः यह बदले की कार्रवाई थी। इस घटना के तत्काल बाद पूरे अधिकृत फिलिस्तीन क्षेत्र में स्वतःस्फूर्त आंदोलन भड़क उठा जो कालांतर में एक दीर्घकालिक जनउभार बनता चला गया। जो शुरुआत इस्राइली शासकों के लिए एक दुःस्वप्न के रूप में हुई थी उसने लगभग एक महीने के भीतर ही एक खतरनाक वास्तविकता की शक्ति अख्तियार कर ली। जनाक्रोश के स्वतःस्फूर्त विस्फोट की शुरुआत ने एक दीर्घकालिक जन प्रतिरोध की शक्ति अख्तियार कर ली और इसका सांगठनिक ताना-बाना भी बनने लगा।

नौजवानों ने व्यापक प्रदर्शनों के अतिरिक्त गुलेलों, पथरों-सोडावाटरों की बोटलों के बल पर सेना से मुठभेड़ें शुरू कर दीं। जल्दी ही आबादी के सभी हिस्से-औरतें, बूढ़े और बच्चे तक, आंदोलन में उतर पड़े। सड़कों पर, गलियों में हर जगह लोग सेना को चुनौती देने लगे। कॉलेज-स्कूल सभी बंद कर दिये गये। हज़ारों लोग गिरफ्तार हुए सैंकड़ों गोली के शिकार हुए, हज़ारों घायल हुए, पर आवाम का सैलाब रुका नहीं। प्रदर्शनों के बाद हड़तालें भी शुरू हो गयीं। 1,10,000 फिलिस्तीन मजदूर जो इस्राइली कारखानों में काम करते थे, हड़ताल पर चले गये। उत्पादन को भारी नुकसान पहुंचा। अधिकृत क्षेत्र के सरकारी दफ्तर बंद हो गये। स्थानीय प्रशासन ठप्प हो गया। प्रतिरोध को तोड़ने के लिए लगातार दमन और कर्फ्यू के अतिरिक्त फिलिस्तीन बस्तियों की ज़रूरी सुविधाएं- पानी-बिजली की लाइनें तक काट दी गयीं। पर कुछ भी असर नहीं हुआ। इस्राइली सेना पहली बार इस नये प्रकार के युद्ध का सामना कर रही थी जिसके आगे उसके कमांडो दस्ते, छापामार संघर्ष विरोधी विशेष दस्ते, मोसाद और दामन के सभी हथकंडे-सब कुछ निष्प्रभावी साबित हो रहे थे। ज़ियनवादी शासक हतप्रभ और किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे।

चार माह के भीतर इस स्वतःस्फूर्त आंदोलन ने संगठित आंदोलन की शक्ति अख्तियार कर ली और एक नये चरण की शुरुआत हो गयी। स्वतःस्फूर्त हड़तालों ने व्यापक असहयोग आंदोलन की शक्ति अख्तियार कर ली। मार्च, 1988 से संगठित हड़तालें शुरू हो गयीं और प्रशासन को पंगु बना दिया गया। हर कस्बे-शहर में हड़ताल कमेटियों का गठन हो गया। ये हड़ताल कमेटियां आंदोलन के नये नामिक बन गयीं और कालांतर में इनका रूपांतरण लोक-कमेटियों (पापुलर कमेटियों) के रूप में हो गया। इन लोक कमेटियों ने जन सेवाओं का वैकल्पिक ढांचा भी बना लिया और लोगों को ज़रूरी चीज़ें मुहैया कराने की व्यवस्था भी खुद खड़ी कर ली। इससे प्रतिरोध-आंदोलन को दीर्घकालिक, व्यापक और अनम्य बनाने का आधार पैदा हो गया। यही नहीं, संघर्ष की दीर्घकालिक प्रकृति को समझते हुए इतिफ़ादा के नेतृत्व ने शिक्षा तक की समान्तर व्यवस्था कायम की। बंद कालेजों-स्कूलों की जगह पर फिलिस्तीन शिक्षक और छात्र

जगह-जगह स्कूल चलाने लगे। बदहवास सत्ता ने ऐसे स्कूल चलाने को गंभीर विद्रोह की कार्रवाई घोषित कर दी, जगह-जगह छात्रों-शिक्षकों को पीटा गया और गिरफ्तार किया गया, पर यह सिलसिला बंद होने की जगह भूमिगत रूप से चलने लगा। संघर्ष की विकसित होती स्थितियों ने आंदोलन के नेतृत्व और संगठनकर्ताओं को और अधिक परिपक्व बनाया। लंबे समय तक संघर्ष को चलाने के लिए इसे सदा एक ही समान उग्र रूप से नहीं चलाया जा सकता, इस समझदारी के बाद नेतृत्व ने आंदोलन को कभी मात्र असहयोग के स्तर पर तो कभी हड़तालों के रूप में, कभी व्यापक प्रदर्शनों के रूप में चलाने का, कभी तेज तो कभी मद्धम कर देने की पद्धति अपना ली और शासन के आर्थिक आधार को कमजोर करने पर अधिक ध्यान देना शुरू किया। नेतृत्व का सफाया करके आंदोलन को तोड़ देने के सरकारी कुचक्र को विफल कर देने की जरूरत ने नेतृत्व को भूमिगत तरीके से काम करना सिखा दिया। खुली जनकार्रवाईयों और भूमिगत कार्रवाईयों में तालमेल का कौशल उन्नत होता चला गया। आंदोलन के नेतृत्व और देशव्यापी समन्वय के लिए जिस राष्ट्रीय कमेटी का गठन हुआ था, उसने संघर्ष के हर स्तर पर नेतृत्व देने के साथ ही जन जीवन को चलाने संबंधी योजना और व्यवस्था को भी अपने हाथों में संभाल लिया और धीरे-धीरे एक समांतर भूमिगत सत्ता की तरह काम करने लगी। पापुलर कमेटियों ने आंदोलन चलाने के साथ ही जन सेवाओं की पूरी व्यवस्था को चलाने के लिए जनता से नियमित आर्थिक सहयोग लेने की व्यवस्था भी लागू कर दी।

इसी कुशल सांगठनिक नियोजन के चलते हज़ारों फिलिस्तीनियों के शहीद होने और दसियों हजार की गिरफ्तारी के बावजूद विभिन्न आरोहों-अवरोहों से गुजरते हुए इन्तिफ़ादा आज दो वर्षों बाद भी जारी हैं अधिकृत फिलिस्तीन क्षेत्र में लाख दमन के बावजूद जनता की समान्तर सत्ता आज भी खड़ी हैं इस संघर्ष का मुकाबला करने में इस्राइल सरकार को अधिकृत क्षेत्र में 10 करोड़ डालर प्रति वर्ष खर्च करने पड़ रहे हैं। जाहिरा तौर पर यह बोझ वह बहुत दिनों तक नहीं बर्दाश्त कर सकती। इन्तिफ़ादा ने पूरे अर्थ तंत्र पर अब तक का सबसे करारा झटका दिया हैं इस्राइल की राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत की कमी आयी है। भवन-निर्माण और पर्यटन उद्योग पूरी तरह ठप्प हो गये हैं और अन्य उद्योग भी बड़े स्तर पर प्रभावित हुए हैं। छापामारों व अरब सेनाओं से युद्ध के लिए प्रशिक्षित इस्राइली सेना विभ्रमग्रस्त और हताशाग्रस्त और हतप्रभ तथा निराश है और नागरिकों की चौकीदारी से ऊब चुकी है।

इतिफ़ादा की शुरुआत का पहला प्रमुख कारण यह था कि फिलिस्तीन मुक्ति संगठन के नेतृत्व में जारी छापामार संघर्ष से ज़ियनवादी शासन की परेशानी के बावजूद फिलिस्तीन समस्या का कोई समाधान नहीं निकलने के कारण और विगत एक

दशक के दौरान के गतिरोध को देखकर अधिकृत फिलिस्तीन क्षेत्र की जनता अब खुद कोई रास्ता निकालने की सोचने लगी थी। यह स्पष्ट होने लगा था कि छापामार संघर्ष के साथ-साथ व्यापक जनता की भागीदारी वाले संघर्ष के रूपों को अपनाना अब अनिवार्य है। दूसरे 1967 के बाद अधिकृत क्षेत्र में इस्राइली प्रभुत्व के भीतर पैदा हुई और जवान हुई पीढ़ी को अब तीसरे दर्जे के नागरिक का नारकीय जीवन जीना स्वीकार्य नहीं रह गया था, घनीभूत आक्रोश अब विस्फोट के कगार पर पहुंच चुका था और नयी पीढ़ी अब अपनी पहल पर बगावत करने का संकल्प बांध चुकी थी। तीसरे, अधिकृत क्षेत्र की शिक्षित, प्रबुद्ध और जनतांत्रिक चेतना से लैस स्वाभिमानी फिलिस्तीनियों को रोज-रोज हत्या-जेल-देश निकाले के बीच जिस अपमान के नारकीय माहौल में जीना पड़ता था, उनकी बस्तियों को जिस तरह सेना और पुलिस की घेरेबंदी और चौकसी में रहना पड़ता था, बेरोज़गारी, नौकरियों में भेदभाव, सस्ते श्रम के शोषण और आर्थिक बदहाली का जो आलम था, उसने आबादी के सबसे निष्क्रिय या काफी कुछ बर्दाश्त करके जीने वाले हिस्से को भी इस बात का शिद्दत के साथ अहसास करा दिया था कि अब उन्हें खुद अपनी मुक्ति के लिए ही नहीं, एक नागरिक की तरह जीने के लिए भी इस्राइली प्रभुत्व के, खिलाफ लड़ना ही होगा। चौथे, 1984 में लेबर-लिकुड गठबंधन के सत्ता में आने के बाद इस्राइली शासकों का रवैया पहले से भी कहीं अधिक दमनकारी और अड़ियल हो चुका था। लेबर पार्टी के तथाकथित नरम रुख का असली चेहरा सामने आ चुका था। अधिकृत क्षेत्र में इस्राइली प्रभुत्व के भीतर स्वायत्तता देने का जो वायदा कैंप डेविड में इस्राइल सरकार कर चुकी थी और जिसे वह सिद्धान्तः स्वीकार करती थी, उसे भी वह देने से व्यवहारतः मुकरती लग रही थी। इन सभी कारणों के समग्र प्रभाव ने इन्तिफ़ादा की शुरुआत के लिए मंच तैयार किया। फिलिस्तीन नारकीय अभिशप्त जीवन की गहराइयों से ऊपर उठकर इस नयी व्यापक जनता की चतुर्विध भागीदारी इन्तिफ़ादा की सर्वप्रमुख विशेषता थी। इसकी दूसरी प्रमुख विशेषता स्वतःस्फूर्तता से संगठनबद्ध होने की दिशा में इसकी प्रक्रिया थी। इसकी तीसरी प्रमुख विशेषता व्यापक जनांदोलन की खुली कार्रवाई और भूमिगत कार्रवाई का तथा भूमिगत नेतृत्व से जनांदोलन के खुले नेतृत्व एवं पूरे आंदोलन का दक्षतापूर्ण तालमेल था। इसकी चौथी प्रमुख विशेषता यह थी कि यह एक राजनीतिक प्रतिरोध-संघर्ष के साथ ही इस्राइली शासक वर्ग पर चहुंमुखी आर्थिक हमला भी था जिसने अधिकृत क्षेत्र के प्रशासन को पंगु और सेना को निष्प्रभावी बनाने के साथ ही पूरी अर्थव्यवस्था को चरमरा दिया तथा दमनकारी युद्ध को लंबा खींच सकने की इस्राइली क्षमता पर अत्यंत प्रभावी प्रहार किया। इसकी पांचवी प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी विकास प्रक्रिया के दौरान पूरे अधिकृत फिलिस्तीन क्षेत्र में जनता की

पूरी समांतर सत्ता और एक नयी समान्तर व्यवस्था उठ खड़ी हुई। नागरिक सुविधाओं, शिक्षा-स्वास्थ्य एवं सहयोग-वसूली के रूप में समान्तर कर-प्रणाली का पूरा ताना-बाना उठ खड़ा हुआ। डठी प्रमुख विशिष्टता यह है कि इन्तिफ़ादा में आम बगावत और दीर्घकालिक लोक युद्ध (प्रोट्रेक्टेट पीपुल्स वार)- दोनों के ही तत्व मौजूद हैं। इन्हीं कारणों से इसका महत्व अत्याधिक है और दुनिया के क्रांतिकारियों का इसका गहराई के साथ अध्ययन करना चाहिए और सबक लेने चाहिए।

इस्राइल के सबसे विश्वसनीय मत संग्रह के 'एक्सपर्ट' हनोक स्मिथ के अनुसार इस्राइली जनता का बहुमत फिलिस्तीनियों के संकल्प से हताश होता जा रहा है, खासकर जब से उन्होंने मुखबिरों और शत्रु सहयोगियों को निर्ममतापूर्वक मारना शुरू कर दिया हैं फिर भी आज 55 प्रतिशत लोग पी.एल.ओ. से बात करने के समर्थक बन चुके हैं। जो तस्वीर उभर रही है उसे स्मिथ एक अत्यंत चिंतित समाज मानते हैं जो महसूस कर रहा है कि जैसा चल रहा है उससे उनकी समस्याएं हल नहीं हो रही हैं।

मुक्ति की दहलीज पर

इन्तिफ़ादा की शुरुआत के कुछ ही दिनों बाद इस्राइली शासक वर्ग को इस बात का बखूबी अहसास हो गया कि इस नये प्रकार के युद्ध का मुकाबला असंभव है। जॉर्डन के शाह को यह स्वीकारने के लिए विवश होना पड़ा कि वह फिलिस्तीन जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करता और फिलिस्तीन मुक्ति संगठन ही फिलिस्तीन हितों का एकमात्र अधिकारिक प्रतिनिधि है। एक अगस्त, 88 को उसने पश्चिमी किनारे पर अपना दावा छोड़ने की घोषणा की। जॉर्डन द्वारा प्रस्तुत विकल्प की समाप्ति की इस घोषणा के साथ ही इस्राइल की लेबर पार्टी और अमेरिका द्वारा प्रस्तुत विकल्प भी खत्म हो गया जो जॉर्डन के साथ फेडरेशन बना कर अधिकृत क्षेत्र में फिलिस्तीनियों को स्वायत्तता देने की बात करता था। तथाकथित नरमपंथी विकल्प का मध्य मार्ग और संकरा हो गया तथा ध्रुवीकरण स्पष्ट हो गया। जल्दी ही मिस्र ने भी इस्राइली प्रभुत्व के अंतर्गत फिलिस्तीन स्वायत्तता के कैंप डेविड फार्मूले द्वारा प्रस्तावित विकल्प को पुराना और नाकाफी घोषित कर दिया।

जॉर्डन के शाह की घोषणा के बाद पहलकदमी के सभी अवसर फिलिस्तीन मुक्ति संगठन के हाथों में सिमट आए। उसकी कूटनीतिक गतिविधियां फिर प्रभावी हो उठीं। साथ ही अधिकृत क्षेत्र में इन्तिफ़ादा-नेतृत्व के साथ निकट तालमेल के साथ उसने अपनी सक्रियता बढ़ा दी जिससे जनउभार को नया संवेग प्राप्त हो गया। इन्तिफ़ादा के नये नेतृत्व ने पी.एल.ओ. नेतृत्व को स्पष्टतः स्वीकार किया जिससे बाहर और भीतर से जारी संघर्ष का मोर्चे में तालमेल कायम हो गया। साथ ही इन्तिफ़ादा के नेतृत्व को भी यह स्पष्ट था कि उनके संघर्ष को

राजनीतिक उपलब्धि में बदलने का काम पी.एल.ओ. का नेतृत्व ही कर सकता है फिलिस्तीन मुक्ति संगठन का प्रधान काम अब संघर्ष को राजनीतिक नेतृत्व देना, ज़ियनवादियों और उनके अमेरिकी सरपरस्तों पर अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर दबाव बढ़ा देना और कूटनीतिक स्तर पर भी आक्रमण के लिए तैयार होना था।

फिलिस्तीन मुक्ति-संघर्ष के इतिहास में पहली बार इन्तिफादा ने स्वतंत्र राष्ट्र की घोषणा के लिए इतनी अनुकूल परिस्थिति पैदा कर दी थी। विश्व-परिस्थितियाँ भी अनुकूल थीं। 15 नवंबर, 88 की सुबह फिलिस्तीन की निर्वासित संसद-फिलिस्तीन राष्ट्रीय परिषद की अल्जीयर्स में हुई राष्ट्रीय बैठक के अंत में अराफत ने स्वतंत्र फिलिस्तीन राष्ट्र की घोषणा कर दी। फिलिस्तीन संसद का दूसरा महत्वपूर्ण निर्णय संयुक्त राष्ट्रसंघ सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव-181, 242 और 338 को स्वीकार करते हुए 46 के मुकाबले 243 मतों के बहुमत से इस्राइल के अस्तित्व को मान्यता देना था। फिलिस्तीन मुक्ति संगठन ने पहले पूरे फिलिस्तीन भूभाग पर अपने धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित किया था। लेकिन इस्राइल राष्ट्र आज की एक वास्तविकता है जिसे आम यहूदी जनता की भी स्वीकृति प्राप्त है। चालीस वर्षों के संघर्ष ने मौजूदा विश्व में और मध्य-पूर्व के चढ़ाव-उतार भरे इतिहास के इस दौर में फिलिस्तीन जनता को विजय के इस मुकाम तक पहुंचाने के साथ ही उसकी वर्तमान ऐतिहासिक त्रासद नियति का भी निर्माण किया है जिसे स्वीकार करना वर्तमान उपलब्धियों को आगे बढ़ाने की सिर्फ वस्तुगत और व्यावहारिक ही नहीं बल्कि वाजिब शर्त भी है। इस्राइल आज की एक सच्चाई है, चाहे इसके निर्माण का इतिहास जो भी हो, और इसे मान्यता देना अन्ततोगत्वा इस बात को स्वीकार करता है कि फिलिस्तीन जनता की लड़ाई इस्राइल की जनता से नहीं बल्कि ज़ियनवादी शासकों से है और यह कि अपनी आजादी के लिए लड़ते हुए वे इस्राइल जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार को भी मान्यता देते हैं।

नवंबर, 88 के अंत में अमेरिका ने जब आतंकवादी कार्यवाइयों के लिए ज़िम्मेदार बताते हुए अराफत को संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा में बोलने के लिए न्यूयार्क आने का वीसा देने से इंकार कर दिया तो संयुक्त राष्ट्रसंघ के 159 सदस्य देशों में से 151 ने इसका विरोध किया। अमेरिका और इस्राइल एकदम अकेले पड़ गये। यहां तक कि अमेरिका का निकट सहयोगी ब्रिटेन तक इस विषय पर तटस्थ रहा। महासभा की विशेष बैठक 13 दिसंबर, 88 को जिनेवा में हुई जिसमें अराफत ने अपनी तीन सूत्री पश्चिमेशिया “शांति पहल” के अंतर्गत यह प्रस्ताव किया कि जिनेवा में ही राष्ट्रसंघ की तत्वावधान में फिलिस्तीन के सवाल पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाए और अधिकृत फिलिस्तीन भूमि से इस्राइली सेना हटाकर राष्ट्रसंघ की देखरेख में शांति सेना तैनात की जाए। इस्राइल और अमेरिका

ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, पर दो दिनों बाद ही अपनी मध्य-पूर्व नीति में अब तक का सबसे बड़ा फेरबदल करते हुए अमेरिका ने पहली बार पी.एल.ओ. से सीधे बातचीत करना स्वीकार कर लिया। पहली बार उसने स्वीकार किया कि पी.एल.ओ. एक आतंकवादी नहीं बल्कि एक राजनीतिक संगठन और फिलिस्तीन जनता का प्रतिनिधि है। ट्यूनिंस स्थित अमेरिका राजदूत से पी.एल.ओ. के चार सदस्यीय प्रतिनिधिमंडल की बातचीत हुई। यह फिलिस्तीन मुक्ति संघर्ष की अब तक की सबसे बड़ी उपलब्धियों में से एक थी। इस्राइल अब दुनिया में पी.एल.ओ. को अस्वीकार करने वाला एकमात्र देश रह गया था। फिलिस्तीन प्रतिनिधिमंडल से बातचीत के दौरान हालांकि अमेरिका ने अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए संबंधित पक्षों में सीधी बातचीत का प्रस्ताव रखा, लेकिन पांच दिनों बाद ही उसने अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्ताव को भी स्वीकार कर लिया। इधर ब्रिटेन ने भी अपनी पहलकदमी पर पी.एल.ओ. से मिलकर मध्यपूर्व-समस्या के हल के लिए प्रयास तेज कर दिये।

स्वतंत्र फिलिस्तीन राष्ट्र की घोषणा हुए एक वर्ष पूरा हो चुका है। दो वर्षों बाद इन्तिफादा अभी भी जारी है। इधर पी.एल.ओ. में फूट के सीरिया या लीबिया समर्थित सभी प्रयास निष्फल साबित हुए हैं और मुक्ति योद्धाओं ने जरूरत पड़ने पर ज़ियनवादी शासन पर निर्णायक प्रहार करने की तैयारी शुरू कर दी है। अरब देशों के जनगण पूरी तरह उनका साथ दे रहे हैं और उनके दबाव के चलते सभी अरब देशों के शासक वर्गों को फिलिस्तीन मुक्ति का समर्थन सभी अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर करना पड़ रहा है। सीरिया अकेला अरब देश है जो स्वतंत्र फिलिस्तीन राज्य की स्थापना और नये विकास-क्रम के प्रति अब तक आलोचनात्मक रुख अपनाये हुए है, पर वह पूरे अरब विश्व में इस मसले पर अलगवाव की स्थिति में है और उसे भी अंतर्राष्ट्रीय मंच पर फिलिस्तीन मुक्ति के नेतृत्व का समर्थन करने के लिए विवश होना पड़ रहा है।

मुक्ति-संघर्ष के बढ़ते दबाव ने साम्राज्यवादी शक्तियों को आपस में बुरी तरह बांट दिया है और अमेरिका का साथ ब्रिटेन सहित उसके सभी पश्चिमी सहयोगियों ने छोड़ दिया है। मध्य-पूर्व नीति को लेकर खुद अमेरिकी शासक वर्ग भी आपस में बुरी तरह बंट गया है और इस गंभीर संकटपूर्ण स्थिति में उसे लगातार पीछे हटना पड़ रहा है। इसी वर्ष दिसंबर के पहले सप्ताह में जब अरब देशों द्वारा फिलिस्तीन को (स्विट्ज़रलैंड के समान) गैर-सदस्य पर्यवेक्षक राष्ट्र का दर्जा देने का प्रस्ताव लाने तथा तीसरी दुनिया के देशों द्वारा उसे समर्थन देने से रोकने में वह किसी भी तरह सफल नहीं हो सका तो अन्ततोगत्वा उसे ‘ब्लैकमेलिंग’ का सहारा लेना पड़ा और संयुक्त राष्ट्रसंघ को दी जाने वाली आर्थिक मदद बंद करने की धमकी देनी पड़ी जिसकी

पूरी दुनिया ने कड़ी भर्त्सना की।

इस्राइली शासक वर्ग इतना अलग-थलग तथा बदहवासी किंकर्तव्यविमूढ़ता और निराशा की स्थिति में पहले कभी नहीं फंसा था। लेबर और लिक्वुड अमेरिका द्वारा भी अनाथ छोड़ दिये जाने के भय से त्रस्त लगातार इस “कठिन घड़ी” में अपनी एकजुटता और दृढ़ता की घोषणा कर रहे हैं, पर उनकी ऊंची आवाज से केवल उनकी घबराहट ही झांक रही है। इस्राइली शासकों में कई स्तरों पर मतभेद मुखर हो उठे हैं। एक ओर प्रधानमंत्री शामिर कैंप डेविड समझौते की दुहाई देता हुए फिलिस्तीन राज्य की स्थापना के विरुद्ध जंग का एलान कर रहा है और लेबर पार्टी भी उसके सुर में सुर मिला रही है, लेकिन लेबर विदेश मंत्री शिमोन पेरेज यह भी कह रहा है कि वह फिलिस्तीनियों के अधिकार को स्वीकार करता है और हर उस फिलिस्तीन से बात करने को तैयार है जो आतंकवाद को अपनी लक्ष्य-प्राप्ति का माध्यम नहीं मानता। लेबर पार्टी के कई संसद और यहां तक कि एक मंत्री ओशे शाहाल भी यह कहने लगे हैं कि यदि स्वायत्तता की पहल असफल होगी तो पी.एल.ओ. से बातचीत करना मजबूरी होगी और तब फिलिस्तीन राज्य इस्राइल के लिए सबसे विपरीत शर्तों पर अस्तित्व में आएगा। लेबर पार्टी कि “डव्स फोरम” के दो सौ सदस्यों ने बैठक कर बातचीत में पी.एल.ओ. को भागीदार बनाने की मांग की है। इधर इस्राइली सेना के जनरलों में भी निराशा फैलती और गहराती जा रही है और दो वर्षों से निहत्थी फिलिस्तीन जनता पर गोलियां और रायफल के कुंदे बरसाते सैनिकों में गहरा असंतोष व्याप्त है।

इन्तिफ़ादा की शुरुआत के बाद के दौर की एक बड़ी उपलब्धि यह है कि इस्राइली यहूदी जनता से भी ज़ियनवादी शासकों का अलगाव बढ़ता जा रहा है और उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा अब फिलिस्तीनियों के अधिकार को स्वीकार करने में लगा है। पिछले वर्ष जनवरी में ‘पीस नाउ’ गुप के आह्वान पर 50 हजार लोगों ने तेल अवीव में प्रदर्शन करके यह मांग की थी कि अधिकृत क्षेत्र से इस्राइली सेनाएं हटा ली जाएं। अमेरिका का यहूदी समुदाय जिसकी भारी सहायता पहले ज़ियनवादियों को प्राप्त थी, अब उनकी नीतियों का विरोध करने लगा है। वहां के सभद्र यहूदी उन पर नरम नीति अपनाने के लिए दबाव डाल रहे हैं जबकि आम यहूदी आबादी अब फिलिस्तीन मुक्ति का समर्थन करने लगी है। कुछ अमेरिकी यहूदी संगठनों ने इस्राइल को आर्थिक मदद बंद करने की धमकी भी दी है पिछले वर्ष दिसंबर के प्रारंभ में स्टॉकहोम में

यासेर अराफात से मिलने वाले अमेरिकी यहूदी समुदाय के प्रतिनिधिमंडल ने स्वतंत्र फिलिस्तीन राज्य की घोषणा का स्वागत किया, जो इस्राइली शासकों के लिए एक सदमा था।

कुल मिलाकर, फिलिस्तीन की मुक्ति अब उस मुकाम पर खड़ी है जहां साम्राज्यवादी विश्व की अभी प्रतिगामी शक्तियां अपने लाख प्रयासों के बावजूद उसे काफी समय तक रोके नहीं रख सकतीं। साथ ही यह भी सही है कि आज़ाद फिलिस्तीन का मार्ग निष्कंटक नहीं होगा और क्रांतिकारी संघर्ष किसी न किसी रूप से आगे भी जारी रह सकता है। मध्यपूर्व के दीर्घकालिक युद्ध की आग न तो इतनी जल्दी बुझने वाली है और न ही त्रासद अतीत के जख्म ही इतनी जल्दी भरने वाले हैं। आज़ाद फिलिस्तीन को अपने पड़ोस में एक शत्रु पड़ोसी देश की उपस्थिति में आगे कदम बढ़ाना होगा। उसकी मुक्ति अरब देशों के जन-गण को अपने देशों के शासक वर्गों के विरुद्ध संघर्ष की नयी प्रेरणा देगी पर फिलिस्तीन को इन अरब शासकों के दुश्मनाना रवैय्ये या क्षेत्रीय प्रभाववादी आकांक्षाओं का भी सामना करना पड़ सकता है। खासकर सीरिया और जार्डन उसके लिए विशेष सिरदर्द हो सकते हैं। इस्राइल को मान्यता देने के प्रश्न पर और आगे के कार्यक्रम व नीतियों को लेकर न केवल सीरिया समर्थित अबू जीब्रील गुट और लीबिया समर्थित अबू निदाल गुट के साथ बल्कि पी.एल.ओ. के भीतर भी मतभेद अभी बरकरार है। साथ ही तीसरी दुनिया के देशों में एक या दो दशकों या उससे भी पहले राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों के बाद कायम जिन सत्ताओं ने उग्र परिवर्तनवादी सुधारों के बावजूद पूंजीवादी विकास का रास्ता चुना, उन देशों के संकट और अस्थिरता की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह सवाल उठाना भी सर्वथा उचित और स्वाभाविक है कि फिलिस्तीन जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के पूरा होने के बाद वहां किस तरह के समाज का निर्माण होगा। पर इतिहास इस प्रश्न पर आज केवल विचार कर सकता है, पूरा वह केवल उसी कार्यभार को करेगा, जो इस दौर में उसके सामने है और यह करने वह जा रहा है।

फिलिस्तीनी मुक्ति ज़ियनवाद के ताबूत में आखिरी कील होगी और न केवल अमेरिकी साम्राज्यवाद की बल्कि पूरे साम्राज्यवाद की यह एक महत्वपूर्ण हार होगी जो आने वाले दिनों में पूरी दुनिया और मध्यपूर्व के शक्ति-संतुलन पर महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ेगी, पूरे अरब विश्व के शासकों के संकट को गहरा कर देगी और जनता के संघर्षों के संगठित होने की प्रक्रिया को नया संवेग प्रदान करेगी।

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए